जैन धर्मावलम्बियों की संख्या-उपलब्धि की वृद्धि हो तो कैसे?

(कमियों के कारण-परिणाम एवं निवारणोपाय)

-ताम्रपत्र ग्रन्थ - विमोचन-

आचार्य कनकनंदी ससंघ का अतिशय क्षेत्र सीपुर के पावन वर्षायोग की स्थापना के अवसर पर प्रो. प्रभात कुमार द्वारा ताम्रपत्र में प्रकाशित तथा आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित 'इष्टोपदेश ग्रन्थ' का विमोचन (2010)

लेखक

युगदृष्टा आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव

वैज्ञानिक संगोष्ठी

आचार्य कनकनंदी के शिष्य डॉ. कछारा का वैज्ञानिक संगोष्ठी के समापन सत्र में विचार व्यक्त करते हुए। (बैंगलौर 2009)

गुरुभक्त सेवाश्री उपाधि अलंकरण

उत्कृष्ट गुरुभक्ति, आहारदान के कारण खुशपाल, आशादेवी, अजब बाई (ग.पु.का. सागवाड़ा) को गुरुभक्त सेवाश्री उपाधि प्रदान करते हुए आ.कनकनंदी। (रामगढ़ 2009)

जैन धर्मावलम्बियों की संख्या-उपलब्धि की वृद्धि हो तो कैसे ?

(कमियों के कारण-परिणाम एवं निवारणोपाय)

पुण्य स्मरण

अतिशय क्षेत्र सीपुर के मंगलमय वर्षायोग एवं

आचार्य श्री कनकनन्दी जी संसघ का 21 चातुर्मास हेतु हार्दिक निवेदन एवं श्रीफल अर्पण, 108 किलो का घृताभिषेक तथा 108 किलो के निर्वाण लाडू अर्पण एवं आ. कनकनंदी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त संस्थानों की नवीन शाखा की स्थापना के उपलक्ष्य में!

ग्रंथांक - 193 प्रतियाँ - 1000

संस्करण - 2010 मूल्य - 51/- रु.

द्रव्यदाता

1. पिताश्री स्व. नेमीचन्द जी जौहरी तथा मातुश्री स्व. शान्तिदेवी जी की पुण्य स्मृति में (अमेरिका)
2. श्रीमती सोनिया धर्मपत्नी श्री संजीव जी जैन, मेरठ (उ.प्र.)

-: प्राप्ति स्थान :-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा - श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा,
चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास, उदयपुर
(राज.) - 313001

-: सम्पर्क सूत्र :-

डॉ. नारायणलाल कछारा (सचिव)
55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर (राज.) - 313001
फोन नं. (0294) 2491422, मो. 9214460622
E-mail : nlkachhara@yahoo.com

लेखक - आचार्य श्री कनकनन्दी जी

मेरे अनुभवों की गवाक्षों से श्री आचार्य कनकनंदीजी

ऐसे साधु सुगुरु कब मिले है।

आप तरें और पर को तारें निष्पृही निर्मल हैं।

उपरोक्त पंक्तियों से सिद्ध होता है कि एक साधक जब साधना के क्षेत्र में उतरता है तब वह सर्वप्रथम गुरु का चयन करता है क्योंकि गुरु रूपी खेवटिया ही उसकी नैया के खिवैया होते हैं। गुरु उस माँ की तरह होते हैं जो अपने बालक का लालन-पालन करती है फिर भी उसे सन्मार्ग पर ही ले जाती है। उसी प्रकार गुरु सच्चे/निस्वार्थी/निष्पक्षी/कर्त्तव्यनिष्ठ/आगम निष्ठ/वात्सल्य हृदयी/सरल/अनुशास्ता गुरु ही शिष्य को परमात्मा बना सकते हैं बशर्ते गुरु स्वयं अपनी साधना में सच्चे हों, निष्पृही हों अपने परमार्थ के लक्ष्य पर अडिग हों, किसी बाह्य तत्व से प्रभावित न हों ऐसे गुरु ही परम उपकारी होते हैं।

गुरु का स्वरूप जो आगम में बताया गया है ऐसे गुणों से युक्त साधक को यदि गुरु मिल जायें तो साधक को ऐसी आत्म संतुष्टी/आत्म तृप्ति/आत्म शांति की प्राप्ति होती है जिसका वर्णन वह अपनी इस लघु जिव्हा अथवा लेखनी से नहीं कर सकता है और मुझे व ग.आ.राजश्री माताजी के साथ सन् 1989 में सरधना में ऐसे गुरु के पास पहुँचाने का श्रेय श्री निर्मल कुमार सेठी जी को है। हमने उनसे जैसा सुना वैसा पाया। आचार्य श्री कुन्थुसागर जी गुरुदेव के संघ के आप (वर्तमान के आचार्य कनकनन्दी) उस समय उपाध्याय थे एक तलघर में एकान्त में बैठे अध्ययन में रत थे। उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव ने वात्सल्यमयी वाणी से प्रसन्नता पूर्वक आशीर्वाद दिया हमें खुशी हुई। गुरुदेव ने हमारी राइटिंग वगैरह देखी फिर हमें गुरुदेव ने कहा मैंने शुभ स्वप्न देखा है तथा मुझे छोटी उम्र के साधु अच्छे लगते हैं। तुम लोग मेरे लेखन कार्य में सहयोगी बनोगे? हमने कहा जी गुरुदेव हमारा सौभाग्य होगा। फिर हम गुरुदेव के पास लिखते, उनसे पढ़ते हुए ज्ञान प्राप्त किया। 9 वर्ष तक गुरुदेव का साहित्य लेखन कार्य

किया तथा गुरु देव की सेवा, भक्ति, पूजा करते हुए ज्ञानार्जन किया। विहार करते-करते गुरुदेव सागवाड़ा आये। सागवाड़ा में राजश्री माताजी दो महीने बीमार रहीं। लोगों से हमने सुना यहाँ सागवाड़ा में जो साधु रहते हैं वे बीमार रहते हैं। यह सुनकर हमें डर भर गया। हमने वहाँ से निकलने का विचार बनाया और एक कारण यह भी था प्रभावना करने की भावना। गुरुदेव से आज्ञा लेकर आगे विहार किया।

गुरुदेव की परम उदारता/समता/निष्पक्षता अनुकरणीय, अभिवंदनीय हैं। वे हर समय चिंतवन रूपी कवच से अपने को माध्यस्थ कर लेते हैं हाँलाकि उनका मातृ हृदय पीड़ित भी हुआ। उस समय के उनके चेहरे की भाव भंगिमा मुझे याद है। उसी समय मैंने संकल्प भी किया था कि मैं गुरुदेव की परोक्ष सेवा करूँगी और बाद में प्रत्यक्ष भी। उनने उस समय हमें जाने से रोका नहीं अपितु कुछ दूर तक गाजे-बाजे से छोड़ने भी आये। हमें भी गुरु को छोड़ते हुए अति दुःख तो हुआ परन्तु स्वार्थ के आगे हमने उसे गौण कर दिया, यही है संसार। जब शिष्य योग्य बन जाये तो वह गुरु को छोड़ देता है, भुला कर निकल जाता है। वैसे बेटा भी बड़ा हो जाये तो माता-पिता को भी छोड़ सकता है। आजकल साधुओं में यह भी चर्चा बहुप्रचलित बन गई है कि कब तक गुरु के बल पर चलोगे; अब तो बड़े हो गये; अपने पैर पर खड़े होकर दिखाओ। इस प्रकार की भावनायें घर व संघ को विभाजित कर रही है। शिष्य को गुरु के ज्ञान की गहराई का अंदाज नहीं होता, उनके अनुभव का आभास नहीं होता।

एक बेटा जब माता-पिता को छोड़कर किसी शहर में जाता है, वहाँ एक-एक पैसे का मूल्य समझ में आता है तब माता-पिता का साया याद आता है। उसी प्रकार गुरु से बिछुड़ कर 12 वर्ष रही किन्तु हर समय गुरु की छवि मन में रही। जहाँ-जहाँ जब-जब हम भटके वहाँ आपके अनुभव ने ही हमें सम्हाला, आपके ज्ञान सूत्रों ने आपके रूप में मार्ग दिखाया। राजस्थान से बिहार कर हम मध्यप्रदेश गये; चौका गाड़ी कुछ भी साथ में नहीं था जिससे अनेक परेशानियाँ उठानी पड़ी। न विहार का अनुभव न

क्षेत्रों की जानकारी। अव्यवस्थित विहार से आरोग्य सम्बन्धी हानि भी उठानी पड़ी। इतना ही नहीं अपनी अज्ञानता या नादानी के कारण हमें अपनी प्यारी माता जी की तथा गुरुदेव की शिष्या ग.आ.राजश्री माताजी की असमय में समाधि भी करानी पड़ी।

उस समय ये कटु अनुभव हुए कि साधु या तो लम्बा विहार न करे और यदि करना भी आवश्यकता हो तो पहले से आगमोक्त योजना के अनुसार धीरे-धीरे विहार करें। बिना सुविधा-साधन के दूसरों के भरोसे नहीं रहना चाहिए। पहले अपना स्वास्थ्य, शक्ति का परीक्षण करना चाहिए। इसलिए जब गुरुदेव कहते थे-''साधुओं को आहार-विहार करना नहीं आता'' तो हम सोचते गुरुदेव ऐसा क्यों बोलते हैं? इतने सारे साधु तो विहार करते हैं। हमने सोचा गुरुदेव अपनी अस्वस्थता के कारण ऐसा सोचते होंगे और लम्बा विहार नहीं करते या फिर इनको गर्मी सहन नहीं होती। हम तो अभी छोटे हैं, हमको विहार करना चाहिए। अभी हमने देखा ही क्या है? ऐसा सोच कर गये थे। कुछ अनुभव निम्नोक्त हैं।

प्रदेश: सर्वप्रथम मध्यप्रदेश में टीन के चद्दर के स्कूल घर तथा निमाड़ की गर्मी से तबाह हुए। गर्मी के साथ-साथ मानसिक तनाव भी कम नहीं मिलता था। निमाड़ के बाद, इंदौर, बड़नगर आदि के बाद पहुँचे महाराष्ट्र जितना हरा-भरा है उतनी कई स्थानों पर गंदगी भी है। कर्नाटक में भाषा की समस्या तथा बार्डर में कुछ गन्दगी है लेकिन आगे जंगलों, बागों का आनन्द भी लिया। तीर्थों के दर्शन किये, बाहुबली भगवान् के आनंददायी दर्शन हुए। वहाँ भी अनजान समझ के कारण कई स्कूल, मठ में परेशानी उठानी पड़ी। विहार में भी गर्मी गंदगी तथा वहाँ के स्कूल सबसे ज्यादा गंदे थे। उ.प्र. में भक्ति भावना बाराबंकी में अच्छी थी, लखनऊँ भी वैसा ही था परन्तु इन प्रांतों में गर्मी भी अधिक और ठंडी भी अधिक आदि-आदि।

समाज : समाज में हर प्रकार के लोग हैं, कुछ अच्छे कुछ बुरे। तीर्थंकर भगवान् के काल में भी सब लोगों को सन्तुष्ट करना असंभव था।

उसी प्रकार वर्तमान में, समाज में नाना मत, नाना पंथ है, इतना ही नहीं कई प्रदेशों में साधुवाद का फैलाव है- हम इनको मानते हैं, इनके पास जाते हैं, उनके पास नहीं जाते हैं, आदि विचारों के बीच समाज को प्रवचन देना पढ़ाना-लिखाना आदि बड़ा कठिन कार्य हो जाता है। कई नगर गाँवों में पंथवाद अथवा साधुवाद के कारण साधुओं की अवमानना भी हो जाती है। साधु जाय तो कहाँ? कितना चले? क्या करे? ये प्रश्न उसे भ्रमित कर देते हैं, फिर भी साधु ऐन-केन प्रकारेण समाज में अपना प्रभाव जमाने की कोशिश में कामयाबी हासिल करने के लिए कभी अहंभाव बढ़ा लेते हैं तो कभी असफलता में हीनभाव भी ले आते हैं। समाज के कार्यों में अपनी साधना का भी भान नहीं रहता है। समाज को अधिक से अधिक कैसे बुलाऊँ इस भावना से भी नाना विकल्पों में साधक उलझ जाते हैं। समाज और साधु दोनों में अगर समन्वय हो, अनुशासन हो, निर्मलता हो, कर्त्तव्यबोध हो तो साधु को विहार-आहार-निहार के लिए, आकुलता नहीं होती है। यह सब न होने के कारण आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव समाज से माध्यस्थ रहते हैं और मेरा भी यही अनुभव है कि साधक अपने को भूलकर समाज में खोकर अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं। इसलिए अब मैं ऐसे गुरु के पास रहकर साधना करूँ जो किसी की परवाह न करते हुए अपने संयम और आत्मशांति में लीन रहते हैं।

निवास : कितना भी बड़ा धनाढ्य समाज क्यों न हो किन्तु प्रायः जैन समाज में जैन संतों के आवास, निवास, की व्यवस्था एक दो शहर, गाँव को छोड़कर हर जगह नहीं है। श्वेताम्बर समाज में स्थानक हैं पर दिगम्बर समाज में ऐसा बहुत कम है। वर्तमान में समाज कुछ जागृत हुआ, कई स्थानों पर थोड़ी बहुत, आवास सुविधा हुई है फिर भी साधु पहुंचने के पश्चात् ही धूल झड़ती है। कई जगह कई साधुओं को स्थान नहीं देते।

नगर-ग्राम : नगरों में प्रदुषण इतना अधिक बढ़ चुका है कि साधुओं का शहरों में रहना ही अनुचित है। आहार और निहार की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ शहरों में थोड़ी बहुत सुविधा है भी तो वह आगम सम्मत

नहीं है। कुछ शहरों में इस कारण साधु को लेने ही नहीं जाते। गृहशौचालय के कारण पानी प्रदूषित है। पानी, वायु, भोजन सब में प्रदूषण का प्रभाव होने से साधु आरोग्य हानि के शिकार बनकर समय से पहले शक्ति खो बैठते हैं। गाँवों में सुविधा न होने से समाज कम होने से साधु शहर की ओर जाते हैं। पैरों में छाले आ जाते हैं, पैर घिस जाते हैं। जैसे-तैसे लम्बे-लम्बे रास्ते पार करके पैर तोड़ते हुए साधु शहर पहुंचते हैं। शहर का समाज अपनी दिनचर्या में व्यस्त रहता है, उसके समयाभाव का बहाना या फिर पंथवाद, मतवाद, साधुवाद की धाराओं को मानने वाला होने से आने वाले साधु को लेने नहीं पहुँचता है तब साधु की मन स्थिति पर क्या असर पड़ता है वह साधु ही जानता है। इसलिए आचार्य श्री कहते हैं छोटा नगर छोटा नरक, बड़ा नगर बड़ा नरक क्योंकि नगरों में शुद्ध आहार लेते हुए भी शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ कि वायु,जल,स्थान ही प्रदूषित है वहाँ आहार में असंख्य अशुद्ध जीवाणु उत्पन्न होते हैं तो शुद्धि कैसे सम्भव है। इसलिए आप शहरों में जाने से बचते हैं। गांवों में भी कुछ गांवों में अधिकांश गन्दगी होने से भी गांव भी साधु के अयोग्य होते हैं फिर भी शहर की अपेक्षा कम।

तीर्थ : तीर्थ दर्शन की भावना से साधु हजारों-हजारों किलोमीटर विहार करते हुए बड़ी भावना से तीर्थ पहुंचते हैं किन्तु तीर्थों में प्रभु दर्शन का आनन्द कम और व्यवस्था की चिंता सताने लगती है। कहीं-कहीं व्यवस्थापक कमरे खोलने को तैयार नहीं तो कहीं साफ कह देते हैं- आप अपनी व्यवस्था से आयें। कुछ तीर्थों पर साधु के निवास स्थान का किराया भी मांगने में कसर नहीं छोड़ते। कहीं पंथवादी दर्शन करने में भी पाबंदी लगाते हैं तो कहीं दुर्व्यवहार भी करते हैं। कई तीर्थ के दर्शन करते समय ताले लगा दिये जाते हैं जैसे-तैसे बाहर से ही दर्शन होते हैं। ऐसे समय में आचार्यश्री के वाक्य याद आ जाते हैं कि लोग तीर्थों पर मनमंजन, आत्मदर्शन, प्रभु दर्शन हेतु कम जाते हैं मनोरंजन हेतु अधिक जाते हैं। एक तीर्थ पर मैंने स्वयं देखा लोग मनोरंजन के लिए तीर्थों पर जाते थे क्योंकि

अन्य स्थानों पर तीर्थों पर गार्डन का किराया अधिक लगता है। अपने तीर्थों पर लगता ही नहीं अतः लोग आराम से आते हैं बड़ी शान से तीर्थों की वस्तुओं को इस्तेमाल करते हैं, तोड़-फोड़ भी हो जाये तो परवाह नहीं करते, समाज में अपने आपको सभ्य पढ़े-लिखे अप टू डेट समझने वाले, धनवान्, उद्योगपति, करोड़पति, डॉक्टर, प्रोफेसर, इंजिनीयर पुरुष, महिलायें व उनके बच्चे यदि वहाँ साधु हैं तो साधु का दर्शन उनको आहार देना आदि में कोई रूचि नहीं रखते। वहाँ प्रभु दर्शन करके थोड़ा बहुत जो पुण्यार्जन किया था वहीं हाऊजी, तम्बोला, कुर्सीदौड़, तास, शतरंज आदि खेल कर पापार्जन भी कर लेते हैं। जो साधु वहाँ ठहरे हैं उन्हें अपने से अज्ञानी समझते हैं अतः स्वयं प्रवचन देंगे परन्तु साधु से प्रवचन के लिए निवेदन भी नहीं करते। सामने से निकल जायें तो उन्हें नमस्कार तो दूर देखते तक नहीं बल्कि बैठकर कुछ लोग साधुओं की निंदा भी करते हैं। इसलिए आचार्य कहते हैं तुम दो तीर्थ की अवमानना कर लेते हो ''अन्य स्थाने कृतं पापं धर्म स्थाने विमुच्यते'' ''धर्म स्थाने कृतं पाप वज्र लेपो भविष्यते''। हमारे गुरुदेव के उस समय मुझे वाक्य याद आ गये कि साधु तीर्थदर्शन करते हैं करें! यदि सहजता, सरलता से होते हैं तो। आत्मशांति प्राप्ति होती हो तो तीर्थ दर्शन से लाभ है वरना आत्म तीर्थ की वंचना है। वर्तमान में कुछ सुधार हो रहे हैं, जागृती भी आई है फिर भी और अपेक्षित है।

प्रभावना: प्रभावना सम्यग्दर्शन का एक अंग मानकर बढ़ने वाले साधु संत अब कुछ उलझन में आ गये हैं। साधु सोचते हैं कि प्रवचन, प्रशिक्षण आदि से समाज सुधरेगा पर समाज सुधरे या न सुधरे साधु अपनी साधना से कुछ विमुख अवश्य हो जाते हैं, प्रभावना का चिंतन कभी चिंता में बदल देता है। प्रभावना के लिए पब्लिक को इकठ्ठा करना यदि आ जाये तो अहं भाव, न आये तो हीन भाव आ जाता है। समाज आलोचना-समालोचना और निंदा भी करती है क्योंकि भीड़ में सत्य को पहचानने की क्षमता, भावना नहीं होती है। इसलिए गुरुदेव कहते हैं कि ''आत्म

प्रभावनीयो'' अर्थात् आत्मा की प्रभावना के स्थान पर अप्रभावना मत कर लेना। प्रभावना न कर सको तो मत करो पर अप्रभावना से धार्मिक जन की आस्था मत तोड़ना। गुरुवर ने ऐसा नियम देकर भेजा था।

पंचकल्याण: पंचकल्याण आदि अनिवार्य हैं। प्रतिष्ठा शास्त्रों के अनुसार समाज में जिन चैत्यालयों का निर्माण हो तथा आचार्यों द्वारा सूरि मंत्र भी दिया जाना चाहिए। परन्तु आज समाज साधु को हजारों कि.मी. पंचकल्याणकों के लिए ले जाते हैं तथापि पंचकल्याणक होते ही इतने थक जाते हैं कि कर्त्तव्यविमुख हो जाते हैं और कुछ लोग सोचते हैं कि अब महाराज जी विहार कर जायें तो अच्छा, कुछ छोटे साधुओं से कह भी देते हैं कि आप लोगों का विहार कब होगा। पंचकल्याणकों में मुख्य क्रियाओं को गौण करना पड़ता है एवं अतिरिक्त तथा मनोरंजन क्रियाओं को महत्त्व दिया जाता है। आर्थिक लाभ हेतु समय का अपव्यय करके भक्ति से दान देकर पुण्य न कमाते हुए आडम्बरमय दान करके अहंभाव बढ़ा लेते हैं। मुख्य क्रियाओं को गौण करके जब हम अतिरिक्त क्रियाओं का अतिरेक करते हैं तब हमें बहुत कुछ हानियाँ भी उठानी पड़ती है। नवीन पीढ़ी की आस्था पर भी कुठाराघात होता है ऐसा गुरुदेव का अनुभव है और हमें भी इतने वर्षों में बहुत कुछ देखने, जानने और अनुभव करने का मौका मिला।

जयन्ती: साधु संतों को जन्म-जयंती, दीक्षा-जयन्ती आदि मानना उचित है ऐसा लोग मानते हैं किन्तु ''अति सर्वत्र वर्जयेत्'' के अनुसार हमें आगम की मर्यादा को ध्यान में रखकर समाज का अनावश्यक अपव्यय न करते हुए गुरुओं का गुणानुवाद, गुणानुकरण, सेवा, वैयावृत्ति करना चाहिए; संत निवास आदि बनवाकर व्यवस्था करना चाहिए तथा पुण्यवर्द्धन करना चाहिए। मैं आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव को धन्य मानती हूँ,उनके प्रति श्रद्धावनत् हूँ कि वे उपरोक्त सभी विषयों से विरक्त हैं, निष्पृह हैं और अपने सिद्धान्तों पर अटल हैं। आचार्य श्री को स्वास्थ्य व सामाजिक, मौसम आदि के कारण मजबूरी में थोड़ा बहुत दोष लगता है। आचार्य श्री कहते हैं ''उसका भी मुझे खेद है, पित्त प्रकृति के कारण

मुझे उष्णता सहन नहीं होती, उष्ण पदार्थ सहन नहीं होते। इस कारण मुझे उष्णता से रहित योग्य क्षेत्र, काल, भाव मिलने पर मैं इतना दोष भी नहीं लगाऊँगा।''

अभीक्ष्ण ज्ञान साधना में रत एक ऐसे साधक विरलों को ही प्राप्त होते हैं। सत्य गवेषक, तत्त्व अन्वेषक गुरुवर हर समय यही चिंतवन करते हैं कि सभी संत अपनी आगमोक्त चर्या का परिपालन करें। ज्यादा भागदौड़ करके अपना स्वास्थ्य व साधु चर्या न बिगाड़ें, प्रभावना के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपना लक्ष्य ओझल न होने दें। आधुनिक चकाचौंध में अपना चारित्र व ज्ञान दूषित न होने दें। गंभीर जिनधर्म को मनमंजन का हेतु बनाये मनोरंजन का नहीं। 12 वर्ष पूर्व गुरुवर की जो मुद्रा थी, जो स्फूर्ति और तेज था आज भी बरकरार है। लगता नहीं कि गुरुदेव 57 वर्ष के हैं बल्कि अभी 30-32 वर्ष की उम्र वालों के समान उर्जा का प्रवाह उनमें नजर आता है। तपस्या का तेज आनन पर झलकता है। वचनों की प्रमाणिकता से भक्तों का मन आनंदित होता है। मेरी श्रद्धा में भी वृद्धि हुई क्योंकि गुरुदेव की 12 वर्ष पहले जैसी चर्या थी वैसी आज भी है। आप अपनी चर्या से कदापि समझौता करना नहीं चाहते हैं। मैं धन्य भाग्य हूँ कि पुनः मुझे ऐसे गुरु का सानिध्य प्राप्त हुआ। इतने दिन के वियोग से हुई क्षति का खेद है परन्तु वर्तमान में गुरुदेव के संबोधन, अध्यापन तथा मार्गदर्शन से मुझे अलौकिक आनंद तथा आत्मशांति की अनुभूति हो रही है, जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकती। हे गुरुवर! आप ज्ञान के अथाह सागर हो, उसकी कुछ बूँदों से हम तृप्त हो जायेंगे। हे गुरुवर! आपके अनुभव रूपी चमन में अनेक सुमन हैं उनकी सुरभि से हम भी अपना जीवन सुरभित बनायेंगे।

आचार्य श्री का मेवाड़-वागड़ में दीर्घ प्रवास : आचार्य श्री ने (गणधराचार्य कुन्थुसागर जी के संसघ) 10 प्रदेशों में विहार किया। उस समय संघ में लगभग 30-35 साधु व ब्रह्मचारिणियाँ आदि भी थे। इतने बड़े संघ के साथ आचार्य श्री ने अपने गुरु के आदेशानुसार संघ का

अनुशासन, शिक्षण आदि की बागडोर सम्हालते हुए विहार किया। साधु को प्रशिक्षित तथा संस्कारवान बनाते हुए प्रायश्चित आदि देते हुए भी आप कभी समाज के लोगों से व्यर्थ की बाते नहीं करते थे, कहीं भी एकांत स्थान जो शोरगुल से रहित हों वहाँ जाकर मौन पूर्वक अध्ययन, चिंतन करने बैठ जाते थे। आपने हर नगर, ग्राम, स्थान, समय, समाज, सामाजिक पंथवाद, मतवाद का गहराई से अनुभव किया, किस स्थान में कब कौनसी घटना घटी वह आज भी आपको यथावत् याद है, आपके माईंड रूपी कम्प्यूटर में पूर्णतः प्रिंट भी है, आपने उन्हीं अनुभवों के बतौर हर देश, ग्राम का परीक्षण करने के पश्चात् मेवाड़-वागड़ की धरा को अपनी चर्या के अनुकूल पाया यहाँ की संस्कृति, विनय, स्वच्छता तथा आगमोक्त परम्पराओं से युक्त श्रावक की आहार चर्या की पद्धति से आहार-विहार और निवास व्यवस्था आदि के कारण उन्हें वर्तमान परिस्थिति में यही क्षेत्र अनुकूल लगा क्योंकि अन्य प्रदेशों की अपेक्षा यह प्रदेश अहिंसा प्रधान भी है। यहाँ के जैन-अजैन में भी सरलता है, विनय है अन्य स्थान से श्रेष्ठ है, उचित है। पास-पास गाँव, शहर होने से साधु को आहार-विहार में अनावश्यक समस्या उठानी नहीं पड़ती है। एक गांव वाले दूसरे गांव पहुंचा देते हैं, जिससे गुरुदेव कहते हैं कि हमें परिग्रह जैसे गाड़ी, मोटर, नौकर, चाकर आदि का दोष नहीं लगता है। आगम में साधु को 2 गव्यूति प्रमाण चतुर्थ काल में विहार करने की आज्ञा है। वर्तमान में 30-40 किलोमीटर विहार करके साधु विभिन्न शारीरिक-मानसिक समस्यओं को झेलते हैं। इस कारण उन्हें वागड़-मेवाड़ की धारा उचित लगती है। यहाँ अधिक पंथवाद का दुराग्रह नहीं, अधिक दुर्जनों का दिमागी विग्रह नहीं है। अतः सब कुछ सोचने समझने के बाद गुरुदेव ने इस प्रांत को अपनी चर्यानुकूल समझा और मैं 27 वर्ष के भ्रमण के अनुभव से भी गुरुदेव के अनुभवों का लोहा मानती हूँ और गौरव करती हूँ कि गुरुदेव जो सोचते हैं, जो करते हैं, जो कहते हैं वह कितना सत्य होता है।

मैंने प्रण किया था - ग.आ.राजश्री माताजी की सेवा के पश्चात् मैं गुरुवर की सेवा करुँगी। मैं गुरुदेव के पास आई मेरे मन में भी आया तथा प्रो.सुशील जी प्रो. प्रभात जी आदि ने भी कहा कि गुरुदेव को अपने को बाहर बड़े शहरों में ले जाना है जिससे गुरुदेव के ज्ञान का सब लाभ उठा सकें। हमने गुरुदेव से निवेदन किया कि हे गुरुदेव! गुरुदेव आप कहीं तीर्थ बनवा लें जिससे आपको हर कोई जान सके आप तक आ सके आपके देश-विदेश के बड़े-बड़े भक्त हैं उन्हें आने में भी सुविधा होगी अथवा आप औरंगाबाद चलें वहाँ के लोग आपके अनुकूल हैं। जहाँ क्षेत्र बनेगा वह भी रमणीय है, साधना के योग्य है। गुरुदेव ने मेरी सारी बातें सुनी पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् मुझे समझाया कि यदि श्रावक हमें निर्दोष स्थान प्रदान करें तो भी उसमें हमेशा नहीं रह सकते। आचार्य श्री ने मुझसे कहा धार्मिक शैक्षणिक कार्य के लिए झुंझुनु समाज को सरकार से जमीन प्राप्त हुई है। समाज तथा बी.एल. सेठी मेरे नाम पर संस्था निर्माण के लिए समर्पित करना चाह रहे हैं परन्तु साधना के उपयुक्त न होने से आचार्य श्री ने अभी तक अनुमति नहीं दी है। अभी कुछ वर्षों से निर्मल कुमार सेठी (अध्यक्ष दिगम्बर जैन महासभा) निवेदन कर रहे हैं कि गुरुदेव आप तीर्थंकर वर्धमान विश्वविद्यालय उ.प्र. में चातुर्मास करके विश्वविद्यालय के लिए मार्गदर्शन दीजिए, आपका महान् कार्य जो देश-विदेश में हो रहा है उसे आगे बढ़ाईये। ऐसा ही मेरे सारे शिष्य मुझसे बार-बार अनुरोध करते हैं बार-बार निवेदन करते हैं। एक दिन सबको बुला कर मैंने पूछा (प्रो.,डॉ., कुलपति,वैज्ञानिक आदि सभी थे) कि यदि मैं एक स्थान पर हमेशा के लिए रहूँगा तो क्या आपकी मेरे प्रति वही श्रद्धा रहेगी? सभी मौन हो गये। गुरुदेव ने मुझसे भी कहा कि तुम्हारा सोचना सही है पर आगम के सिद्धान्तों को क्यों भूल गई हो? मैंने तुम लोगों को इतना पढ़ाया, लिखाया, अनुभव सिखाया, फिर भी तुम लोग इस प्रकार सोचते हो, मुझे दुःख होता है। आपने मुझे ''कलिकाल में साधु क्यों बने'' यह पुस्तक पढ़ाते हुए समझाया की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाना जरूरी है।

किन्तु आगम पद्धति के अनुकूल रहते हुए मैं तुम्हें सब करके बताऊँगा तुम सिर्फ अपनी आत्मा साधना में लग जाओ। गुरुदेव ने कहा कि मैं अपनी आत्मा की साधना सत्यसाम्य भाव से करता हूँ जिससे 34-35 वर्षों में शुभ शकुन, संकेत स्वप्न आदि से सूचना प्राप्त होती है। भविष्य में और भी बड़े-बड़े कार्य होंगे और भी हो रहे हैं। तुम लोगों के आने के भी शुभ संकेत प्राप्त हुए।

आचार्य श्री ने कहा जिस लक्ष्य को लेकर साधु बने हो उसमें निर्मल भावों से आगे बढ़ते जाओ मार्ग अपने आप बनते जायेंगे पर साधना से अधिक साधनों के पीछे जाने की चाह रखोगे तो साधन ही तुम्हें भटकाने में सहायक बन जायेंगे। नितिन जैन जो कि गृहत्यागी, समाज सेवी, गुरुसेवी युवक है जो कई वर्षों से मेरे पास निवेदन करने आ रहे थे उनकी भक्ति, भावना, सरलता और विचार सुनकर मैं यहाँ आया और मैं निरीक्षण-परीक्षण कर रहा हूँ कि एक युवक जिसने 28 वर्ष की उम्र में अपना जीवन संतों की सेवा और सीपुर क्षेत्र उद्धार में लगा दिया बार-बार हर दिन एक ही भावना भाता है कि हे गुरुदेव 21 चातुर्मास कराऊँगा कोई बीच में ले जाने की बात करे तो उसे साफ मना कर देते हैं यदि ऐसी भक्ति भावना से सहित यदि एक युवक जो सिर्फ 39 वर्ष के हैं बार-बार यह कहते हैं कि मैं रूग्ण, वृद्ध, समाज से उपेक्षित साधुओं की सेवा में अपना पूरा जीवन समर्पित कर दूँगा उनके रहने के लिए संत निवास बनाऊँगा जब तक संत निवास नहीं बनेगा तब-तक अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। ऐसे श्रावक की व्यवस्था को स्वीकार करने में साधु को कोई दोष नहीं है। नितिन भाई अपने साथी व सहयोगियों के सहयोग से जो व्यवस्थायें दे रहे हैं वे सब कार्य पूरे देश के लिए अनुकरणीय तथा चुनौतिपूर्ण है। अगर एक युवक आदर्श स्थापित करना चाहता है, वर्तमान विचार धाराओं में क्रान्ति लाना चाहता है तो क्यों न ऐसे भक्त के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीष दूँ। इस भावना से युक्त हृदय वालों का मैं मसीहा बनकर धार्मिक, सामाजिक, वैचारिक कुरीतियों को मिटाने व क्रांति लाने के लिए हर क्षेत्र में कदम बढ़ा

रहा हूँ और बढ़ाऊँगा। पहले माता जिनवाणी उपेक्षित थी, मैंने उनकी सेवा साधना में इतना समय लगाया। अब संतों की उपेक्षा हो रही है इसलिए अब इसके लिए भी प्रयासरत हूँ। इसलिए मैं ज्यादा भाग-दौड़ करके समय शक्ति व धन का अपव्यय न करवाते हुए इस क्षेत्र में ही विहार करता हूँ। मुझे इस उचित स्थान के चयन से अनेक लाभ हुए हैं। 14-15 वर्षों में सिर्फ 150 कि.मी. व्यास क्षेत्र में विहार करके मैंने अपना ज्ञान विस्तारित किया है और उसका लाभ देश-विदेश वाले उठा रहे हैं। 13 प्रदेशों के 47 विश्वविद्यालयों में मेरे साहित्य कक्ष की स्थापना हो गई है (शोधकार्य पी.एच.डी. वालों के लिए) और भी होने जा रही है। मेरे शिष्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया (मेलबार्न) लंदन, चीन, जापान, नेपाल में मेरे प्रतिनिधि के रूप में धार्मिक प्रचार तथा वैज्ञानिक कार्य के लिए जा रहे हैं।

देश-विदेश के शिष्य दिगम्बर, श्वेताम्बर, जैन, अजैन यथायोग्य सेवा सहायता भी करते हैं। वैयावृत्ति के उपकरण औषधि भी भेजते हैं। मैं कई अन्य बड़े-बड़े कार्य भी इसी केन्द्र से कर रहा हूँ अतः मुझे इस क्षेत्र से अनेक लाभ हैं। इन लाभों का मैं भी अनुभव कर रही हूँ। मैं भगवान् से यही प्रार्थना करती हूँ कि जब तक मुक्ति मिले तब तक गुरुदेव का सम्यक् उपदेश हर भव में प्राप्त हो क्योंकि मेरे अनुभव में मेरे गुरुवर सबसे ज्ञानी, सबसे अनुभवी, सबसे निष्पृही हैं। इनकी शरणा प्राप्त कर हम अपना भव भ्रमण मिटा दें तो ही हमारा जीवन सार्थक होगा तथा शिष्यत्त्व का सम्बन्ध सफल बनेगा।

इसी शुभभावना के साथ

आ.क्षमाश्री

संघस्था - आचार्य श्री कनकनंदी गुरुदेव

अतिशय क्षेत्र ''सीपुर'' 6-9-2010

आओ परिभाषा हम समझें जैन धर्म महान् की-

तर्ज – (आओ बच्चों तुम्हें/धीरे धीरे चलोजी मन्दिर) (नरेन्द्र छन्द)

आओ परिभाषा हम समझें जैन धर्म महान् की।
कहीं भूल से हानि न हो जैन धर्म के शान की।।

वन्दे जिनवरम् , वन्दे जिनवरम्, वन्दे जिनवरम.....

जैन धर्म है आत्म धर्म वस्तुस्वभाव बतलाते हैं।
विश्व-धर्म को भूल गये क्यों आडम्बर अपनाते हैं।
धनाश्रितों का धर्म नहीं यह न जाति से है नाता।
यह तो निर्मल पावन नभ सम सर्व व्याप्य कहलाता है

भुभुक्षु नहीं मुमुक्षु बनें जिनशासन के शान की। कहीं भूल से.....

पवित्र भावना अनेकांत से भाव अहिंसा अपनायें।
हित-मित-प्रिय सापेक्ष कथन को वचन अहिंसा बतलायें।।
एक दूजे के सहयोगी बन अपरिग्रहवादी बन जायें।
समाज अहिंसा की परिभाषा समझें सबको समझायें।।

इन तीनों से शिक्षा लें हम जन-जन के कल्याण की। कहीं.....

नव कोटि से जीवदया पालन करना कहलाता है।
केवल द्रव्य अहिंसा को ही मानव अब अपनाता है।
प्राण वियोग भले न करके दिल दूजों को दुखाता है।
शोषण, भ्रष्टाचारी, अनीति करके तिलक लगाता है।।

उसे नहीं जिनशरणा मिलती श्री जिनवर भगवान् की। कहीं भूल.....

चार प्रकार के दान करे वो ही श्रावक कहलाते हैं।
सप्त व्यसन व पांचों व्रतों में अपना ध्यान लगाते हैं।।
वे ही श्रावक शिरोमणी बन सुख शांति पा जाते हैं।
ऐसे श्रावक ही गुरुओं की सेवा से मान बढ़ाते हैं।।

गुरु भक्ति, प्रभुभक्ति से चढ़ते सीढ़ी मोक्ष महान् की। कहीं.....

चमड़ी दमड़ी की चमक-दमक में आज का मानव भटक रहा।
पुस्तकीय पढ़ाई करके खुद को ज्ञानी समझ रहा।।
मान बढ़ाई बढ़ा-बढ़ा कर मान में अपने अटक रहा।
गले में माला और दुसाला पहन-पहन कर भटक रहा।।

ऐसे लोगों से घटती है महिमा पावन दान की। कहीं.....

साधु, समता, वीतरागता धर निज पर हित योग धारें।
किन्तु श्रावक स्वारथ हेतु साधु का प्रयोग करें।।
श्रावक-साधु धन-जन की भीड़ बड़ी जमाते हैं।
सच्चे धर्म की महिमा भूले बाह्य प्रभाव बताते हैं।

यह विधि नहीं है प्यारे विश्व के कल्याण की। कहीं भूल...

उदारता के बदले में संकीर्णता अपनाते हैं।
मोक्षमार्ग के परिवर्तन में पंथवाद फैलाते हैं।।
परमारथ को पाने निकले अर्थवादि बन जाते हैं।
प्रभावना की भूल के बदले प्रसिद्धि में फंस जाते हैं।

व्यक्ति पूजक कभी न बनना गुण पूजा ही महान् है। कहीं भूल.....

पढ़ने को स्वाध्याय न समझो आत्म चिंतन-मनन करो।
गुण ग्रहण का भाव रखो न हलके पन की नकल करो।।
आत्म दर्श का लक्ष्य बनाकर प्रदर्शन को मत पकड़ो।
वीतराग की पूजा करके वित्तराग न चित्त धरो।

"कनकनंदी" शुभ भाव बनायें विश्वमय कल्याण की। कहीं भूल से हानि.....

शब्द संकलन – आचार्य श्री कनकनन्दी

प्रस्तुति – आर्यिका क्षमाश्री माताजी

प्राथमिकी

निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिन निर्मल करे सुहाय।।

क्रान्तिकारी, समाजसुधारक, समन्वयवादी, उदारमना कबीर दास ने उपर्युक्त दोहे में अनेक शिक्षाप्रद नीतियों का समावेश किया। सामान्य व्यक्तियों की प्रवृत्ति चक्षु की जैसी होती है। जिस प्रकार चक्षु स्वयं को नहीं देखते हैं परन्तु दूसरों को देखते हैं उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति स्वयं को, स्वयं के गुण-दोषों को नहीं देखते हैं परन्तु दर्पण के माध्यम से जिस प्रकार चक्षु स्वयं को भी देखते हैं उसी प्रकार व्यक्ति गुण-दोष बताने वालों के माध्यम से स्वयं के गुण-दोषों को भी जान लेता है। इसलिए केवल द्वेषवश निन्दा करने वालों से या निहित स्वार्थवश प्रशंसा करने वालों से वह सज्जन महान् उपकारी/गुरु है जो हमें महान् बनाने के लिए हमारे गुण-दोषों का यथार्थ वर्णन हमारे समक्ष करे। इसके साथ-साथ जो व्यक्ति स्वयं प्रामाणिक/निर्भयी/निस्वार्थी/परोपकारी होगा वह ही दूसरों के समक्ष उसके विकास के लिए उसके गुण दोषों को सटीक कथन कर सकेगा। उपर्युक्त गुणों के बिना जो कोई दूसरों के लिए जो कुछ कहता है उसमें कुछ न कुछ स्वार्थ, ईर्ष्या, घृणा, अज्ञानता, राग, द्वेष, मोह आदि दोष या इनमें से कुछ दोष अवश्य होगें। इसलिए निष्पक्षता से गुण-दोषों को बताने वाले यथार्थ से अहेतुक बंधु/उपकारी/गुरु हैं। गुरु तो शिष्य को महान् बनाने के लिए यह ही करता है। इसलिए कबीर दास ने कहा कि निन्दक को पास रखो, उनकी संगति के लिए व्यवस्था करो। इससे दोष दूर होकर हृदय पवित्र हो जायेगा। हृदय की पवित्रता ही समस्त प्रगति, प्रभुता, सिद्धि-प्रसिद्धि, कीर्ति, प्रभावना, उपलब्धि का मूल कारण है। उपर्युक्त उद्देश्य/लक्ष्य/भाव ही इस कृति के प्रेरक तत्त्व है।

प्रत्येक द्रव्य में संख्या (प्रमाण, इयत्ता)एवं गुणवत्ता (उपब्धि, गुणधर्म) अवश्य होती है। गुणवत्ता के बिना केवल संख्या का कोई महत्त्व नहीं है। गुणवत्ता सहित संख्या का महत्त्व बढ़ जाता है। कोई धर्म, परंपरा, मत

केवल प्राचीन होने से महान् नहीं हो जाता है। जैसा कि मिथ्यात्व, चोरी, बलात्कार, व्यसनादि प्राचीन काल से हैं इसलिए महान्/उपादेय या ग्रहणीय नहीं है। सर्वजीव उपकारी, न्याययुक्त, सत्य परम्परा नवीन होने पर भी महान् है, ग्रहणीय है, उपादेय है। यथा-सम्यक्त्व, समीचीन, लोकतंत्र, साम्यवाद बाल-विवाह सती दाह दास-प्रथा का उन्मूलन, मोक्ष प्राप्ति आदि। परन्तु जो प्राचीन भी हो और समीचीन भी वह यथार्थ से 'Old is gold' अर्थात् 'जूना और सोना' है। यथा-सत्य, अहिंसा, न्याय, सदाचार आदि। इसलिये तो 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्' या 'सच्चिदानन्दम्' का महत्त्व सर्वोपरि है। अर्थात् जो सत्य होकर मंगल/कल्याणकारी (शिव) हो वही सुन्दर है, उत्तम है, स्वीकार्य है तथा सत्य के साथ-साथ चैतन्य से युक्त हो, पवित्र भाव से युक्तहो वही आनन्द दायक है। जैन धर्म उपर्युक्त समस्त अच्छे विशेषणों से, गुणों से युक्त है। अर्थात् जैन धर्म प्राचीन है, गुणवत्ता से युक्त है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है, चैतन्यमय है, आनन्दप्रद भी है। तथापि वर्तमान भारत में तथा आधुनिक पृथ्वी में इसको स्पष्ट रूप से पालन करने वाले मनुष्यों की संख्या भी कम है और जैनधर्म की गुणवत्ता/महानता के अनुपात जैनियों की गुणवत्ता/उपलब्धि भी कम है। यह स्वयं एक प्रश्न है, जिज्ञासा है। यह प्रश्न मुझे अनेक शिविर कक्षा आदि में अनेकों ने पूछा था। उस समय भी यथायोग्य संक्षिप्त उत्तर दिया था परन्तु इस कृति में मैंने अपने स्वयं के दीर्घ अनुभव/अनुसंधान/शोध-बोध के साथ-साथ पूर्वाचार्यकृत अनेक साहित्यों के उदाहरणों की समायोजना की है। स्वतंत्र रचना रूप में यह मेरा एक नम्र प्रयास है। इस प्रयास में यदि कोई त्रुटि है तो उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। इस विषय पर विवेकी सज्जनों के मार्गदर्शन/संशोधन मेरे लिए स्वागत योग्य हैं।

पुराण, इतिहास, शिलालेख, प्राचीन अवशेष साक्षी हैं कि अनेक देश-विदेशों के विभिन्न धर्मावलम्बियों ने स्वधर्म के प्रचार के लिए नैतिक आध्यात्मिक साधनों का आलम्बन कम लिया, परन्तु छल, अत्याचार, तलवार, प्रलोभन, बलात्कार, विध्वंश, युद्ध, सत्ता का अधिक आलम्बन लिया। यह धर्म का प्रचार-प्रसार-प्रभावना, विकास नहीं परन्तु क्रूरता

अधार्मिकता, हिंसा, विनाश, विध्वंश है। इसलिए भी तो धर्म के नाम पर शान्ति के परिवर्तन में अशांति अधिक है। धर्म तो स्वाभाविक से धारण करने योग्य है। धर्म अंतरंग का गुण है। इसलिए इसे अंतरंग से स्वीकार किया जाता है, धारण किया जाता है, पालन किया जाता है। बलपूर्वक बाहर से थोपने पर धर्म नहीं होता है। इसलिए तो जो धर्म प्रचार के लिए अधर्म, अनीति का माध्यम अपनाते हैं और उनसे अपना धर्म बचाने के लिए दूसरे फिर अधर्म का मार्ग अपनाते हैं। इसलिए धर्म प्रचार एवं बचाव के लिए धर्म से अधिक अधर्म होता है। धर्म सब के लिए सर्व प्रकार के सुख के लिए कारण होते हुए भी कुछ व्यक्तिगत पवित्र पुरुषों को छोड़कर धर्म सामूहिक रूप से सामान्य व्यक्तियों के लिये दुःख के ही कारण बना है।

जैन साहित्यों के परिशीलन से स्पष्ट परिज्ञान होता है कि प्रत्येक संसारी जीव पहले से ही धर्म विमुख/मिथ्यादृष्टि/विधर्मी ही रहता है। योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि या जैनी बनता है या परिणाम विशुद्धि आदि पाँच लब्धियों को प्राप्त करके जैनी बनता है। यथा--

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकत्तोयसमं।। (650)
खयउवसमियविसोही देसणापाउग्ग-करणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मते।। (651)

जिस प्रकार कीचड़ के नीचे बैठ जाने से जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से पदार्थ का जो श्रद्धान होता है वह उपशम सम्यकत्व है। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ होती है। इनमें से चार तो सामान्य हैं परन्तु करण लब्धि के होने पर सम्यकत्व अवश्य होता है।

उपर्युक्त 5 लब्धियों में से करण/परिणाम/भावों की उपलब्धि धर्म को प्राप्त करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। क्योंकि आध्यात्मिक धर्म भाव पर

आधारित हैं। इसके लिए अन्य लब्धियाँ सहकारी कारण हैं। इन सहकारी कारण में देशनालब्धि अर्थात् गुरुओं का सदुपदेश भी एक कारण है। बिना सुदपदेश किसी को भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। जो स्वयंभू तीर्थंकर भी होते हैं, जिन्हें उस अवस्था में गुरु की आवश्यकता नहीं होती है; गुरुओं के उपदेश, सहायता तथा मार्गदर्शन के बिना भी जो साधु बनकर भगवान् बन जाते हैं वे भी जब अनादि मिथ्यादृष्टि/कुधर्मी/अजैन से सम्यग्दृष्टि/जैनी बनते हैं तब उन्हें भी गुरु के उपदेश की आवश्यकता पड़ी। गुरु के उपदेश बिना कोई सच्चा धार्मिक नहीं बनता है। इसलिए सब कोई धर्म-परिवर्तित होकर ही जैनी बनते हैं। यथा --

आसन्नभव्यताकर्महानि - संज्ञित्व - शुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यकत्वमश्नुते।। (6)

निकटभव्यता, कर्महानि, संज्ञीपना तथा विशुद्धि परिणामवाला वह जीव जिसका मिथ्यात्व सच्चे गुरु के उपदेश आदि के द्वारा अस्त हो गया है, सम्यकत्व को प्राप्त होता है।

चतुर्थ काल में तो सम्यकत्व सहित जीव यहाँ तक की तीर्थंकर प्रकृति से युक्त जीव भी जन्म लेते थे, तीर्थंकर, गणधर आदिओं का सद्भाव था परन्तु पंचम काल में तीर्थंकर, गणधरों का सद्भाव है ही नहीं तथा सम्यकत्व सहित भी जीव अर्थात् जन्मतः कोई जैनी जन्म ही नहीं लेता है। इसके साथ सच्चे धर्म के उपदेशक साधु गुरुओं की संख्या भी कम है। इसलिए इस काल में धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए स्वेच्छा से जो जैन धर्म अपनाना चाहता है, ऐसे योग्य भद्र व्यक्तियों को भी उपदेश देकर जैनी बनाना चाहिए। कहा भी है-

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्षिवह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्।। (7) सा.ध.पृ.8

बड़े खेद की बात है कि इस भरत क्षेत्र में पंचमकाल रूपी वर्षा ऋतु में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेशरूपी मेघों से ढक जाने पर जुगनूओं की तरह सच्चे गुरु कहीं-कहीं पर ही दिखाई देते हैं। अर्थात् जैसे

वर्षाकाल में दिशाओं के मेघों से आच्छादित होने पर सूर्य वगैरह के प्रकाश के अभाव में किसी-किसी स्थान पर जुगनू चमकते हुए देखे जाते हैं वैसे ही यहाँ पंचमकाल में किसी किसी आर्यदेश में सच्चे उपदेशक गुरु दिखाई देते हैं। चतुर्थ काल की तरह केवली और श्रुतकेवली कहीं भी नहीं हैं।

नाथामहेऽथ भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशाम्।
हेमन्यलभये हि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्य कः।। (8)

इस समय इस क्षेत्र में हम भद्र पुरुषों से भी आशा करते हैं कि वे उपदेश के योग्य हों तब सम्यग्दृष्टियों की तो बात ही क्या है? क्योंकि सुवर्ण के अप्राप्य होने पर सुवर्ण पाषाण कौन प्राप्त करना नहीं चाहता?

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽहिषन्।
भद्रः स वेश्यो द्रव्यात्वान्नाभद्रषुतद्विपर्ययात्।। (9)

मिथ्या धर्म में आसक्तहोते हुए भी समीचीन धर्म से द्वेष रखने का कारण जो मिथ्यात्व कर्म है, उसके द्रव्य की मन्दतासे जो समीचीन धर्म से द्वेष नहीं करता उसे भद्र कहते हैं। वह उपदेश का पात्र है, क्योंकि उसमें भविष्य में सम्यकत्व गुण के प्रकट होने की योग्यता है। इससे विपरीत होने से अर्थात् आगामी में सम्यकत्व गुण प्रकट होने की योग्यता न होने से अभद्र पुरुष उपदेश का पात्र नहीं है।

विशेषार्थ : मिथ्याधर्म से प्रेम रखने वाले भी दो प्रकार के होते हैं एक वे जो समीचीन धर्म से द्वेष नहीं रखते हैं, उन्हें ही भद्र कहते हैं। जो समीचीन धर्म से द्वेष रखते हैं, उन्हें अभद्र कहते हैं। भद्र उपदेश का पात्र है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व के उदय की मन्दता है तभी वह समीचीन धर्म सुनाने पर सुनता है। किन्तु अभद्र तो सुनना ही नहीं चाहता। उसके अभी तीव्र मिथ्यात्व का उदय है। अतः जिन्होंने जैन कुल में जन्म लिया है वे ही केवल उपदेश के पात्र नहीं है, विधर्मी, मन्दकषायी जीवों को भी धर्म सुनाना चाहिए। ऊपर जो 'कुधर्मस्थोऽपि' में आदि शब्द दिया है उसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष समीचीन धर्म और मिथ्याधर्म में मध्यस्थ है वह भी उपदेश का पात्र है। उसे भी धर्म में व्युत्पन्न बनाना चाहिए।

शलाकयेवासगिराऽऽसप्तसूत्रप्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोऽपिसच्चा रुचिमत्सु तद्वद् भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम्।। (10)

जैसे मणि बज्रकी सुई के द्वारा बींधी जाने पर धागे के मार्ग का प्रवेश पाकर जब अन्य मणियों में प्रवष्टि जो जाती है तो उसमें चमक कम होने पर भी चमकदार मणियों में मिलकर वह भी चमकदार दिखने लगती है। उसी तरह जो भद्र पुरुष जिन भगवान् की वाणी के द्वारा ऐसा हो जाता है कि उसके चित्त में परमागम के वचन-प्रवेश करने लगते हैं, वह भले ही श्रद्धा से रहित हो, किन्तु सुनय के प्रयोग में कुशल व्यवहारी पुरुषों को सम्यग्दृष्टियों के मध्य में उन्हीं की तरह लगता है।

विशेषार्थः भद्र पुरुष को आगामी में सम्यकत्व गुण के योग्य कहा है। जब वह परमागमका उपदेश श्रवण करने लगता है तो उसके हृदय में वह उपदेश अपनी जगह बनाना प्रारंभ कर देता है। उसके मन में उसके प्रति जिज्ञासा होती है। भले ही उसकी इस पर श्रद्धा न हो किन्तु नय दृष्टि से वह मनुष्य भविष्य में सम्यग्दृष्टि होने की सम्भावना से सम्यग्दृष्टि ही माना जाता है।

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रवर्ग भजन।
अन्योन्यानुगुणं दादार्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी।
शृण्वन् धर्मविधि दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।। (11)

न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, गुणों, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर, सत्कार करने वाला, परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव नगर और मकान वाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खानपान और गमनागमन करने वाला, सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये गये उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु और पाप-भीरु

पुरुष गृहस्थ धर्म को पालन करने में समर्थ होता है। अतएव हमें इस संकीर्णता एवं मिथ्यामान्यता को त्याग करना चाहिए कि जो परम्परागत जैन कुल में जन्म लिया है वही जैनी है। उसे ही जैन धर्म पालन करने का अधिकार है भले वह अभव्य, मिथ्यादृष्टि, व्यसनी, धर्मद्रोही हो और जो परम्परागत जैनेतर धर्म में जन्म लिया हो भले वह भव्य हो, सम्यग्दृष्टि हो, भद्र हो, जैन धर्म को स्वीकार करके पालन करता हो तो भी वह जैन धर्म बाह्य है। यदि ऐसा होता तो अनेक हमारे तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, साधु जो सिद्ध भगवान् भी बन गये हैं वे भी सिद्ध अवस्था आदि में अजैन ही होते और जो तीर्थंकर गणधर, साधु आदि के परिवार में जन्म लेने वाले अभव्य, मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही हैं वे सब जैनी हो जाते। मरीची कुमार जो आदिनाथ तीर्थंकर का पोता, भरत चक्रवर्ती का पुत्र था उसने भी जैन धर्म के विरुद्ध मत चलाया। इसलिए तीर्थंकर का पोता भी उस समय में कट्टर जैनधर्म द्रोही अजैन था। वही मरीची का जीव जब सिंह पर्याय में एक हरिण को पकड़कर खा रहा था, तब दो चारण ऋद्धिधारी, मुनियों के उपदेश से हिंसा त्याग करके, सर्व प्रकार के भोजन पानी का त्याग करके उसने समाधि ली जिससे वह विकास करते करते तीर्थंकर महावीर बन गया। इसलिए पशुगति में जन्म लेने वाला धर्म-पालक वह सिंह जैनी है न कि तीर्थंकर आदिनाथ के घर में जन्म लेने वाला, अधर्म को पालन पोषण, प्रसार-प्रचार करने वाला मरीची कुमार। इसी प्रकार खण्डेलवाल सरावगी, अग्रवाल जैन, हुमड जैन और इस कुल के अनेक साधु यथा आचार्य वीर सागरजी, आ.शिवसागरजी, आचार्यकल्प चन्द्रसागरजी, आचार्य धर्म सागरजी आदि अजैन हो जाते। क्योंकि विक्रम संवत् 101 को आचार्य जिनसेन ने जो कि यशोभद्राचार्य के शिष्य थे खण्डेला के **खण्डेलगिरि महाराजा उनके परिवार, 13 अन्य चौहान क्षत्रिय परिवार आदि तीन लाख परिवारों ने धर्म परिवर्तन करके जैन धर्म में दीक्षा ली। खण्डेलवाल जैन अभी जो स्वयं को वैश्य मान रहे हैं वे वस्तुतः क्षत्रिय ही हैं। इसी प्रकार अग्रवाल जैनों ने भी लोहाचार्य के समय में जैन धर्म स्वीकार किया जोकि वस्तुतः वैश्य**

न होकर क्षत्रिय हैं। हूमड जैन भी पहले गुजरात के खेडब्रह्मा में रहने वाले क्षत्रिय लाट-लाड़ क्षत्रिय थे। वीर संवत् 550 में अर्हद्बली के शिष्य माघनन्दि ने नन्दिसंघ की स्थापना की। इस संघ के आचार्य हूम्माचार्य ने खेडब्रह्मा के 18000 क्षत्रियों को संगठित करके जैन बनाया। वे ही आज हूमड जैन हैं। इसी वंश में घासीलाल पूनमचन्द्र कोटडीया हुए जिन्होंने आचार्य शान्तिसागर जी को उत्तर भारत की यात्रा करवाई और इनके परिवार मोतीलाल जी मुनि सुबुधिसागर बने और गेन्दमलजी क्षुल्लक बने।

धर्म की प्रभावना हो, सब जीव अधर्म त्यागकर धर्म के मार्ग पर चलकर सुखी बने ऐसी भावना भानी चाहिए और तदनुकूल पुरुषार्थ भी करना चाहिए। इसका ही प्रकारान्तर से शास्त्रों में तीर्थंकर बनने की षोडष कारण भावना, अपाय विचय, विपाक विचय धर्म-ध्यान, मैत्री-भावना, प्रभावना अंग आदि रूप से वर्णन होता है, पुण्य का संचय होता है, आत्मा में पवित्रता आती है, दूसरों का उपकार होता है और आगे जाकर जीव तीर्थंकर, अरिहंत, गणधरादि बनकर सिद्ध बनता है।

धर्म की प्रभावना के लिए पहले हमें स्व की प्रभावना/आत्म प्रभावना करनी चाहिए। आत्म प्रभावना के लिए हमें सच्चे श्रद्धानी, विवेकी, सदाचारी, विनम्र, सरल, सहज, सहिष्णु, पुरुषार्थी, त्यागी, निस्वार्थी, साम्यभावी, अनिन्दक, परमंत साम्यभावी होना चाहिए।

इस कृति में मैंने जैन धर्मावलम्बियों की संख्या/उपलब्धि की कमी के अनेक कारणों का दिग्दर्शन किया है। उन कारणों में से अनेक कारण दोष/भूल सम्बन्धी हैं। देश-विदेश के राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि साहित्य के गहन अनुसन्धानात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है जिस किसी भी धार्मिक साम्प्रदायिक आदि का ह्रास या पतन हुआ उसमें स्वकृत दोष ही मुख्य कारण बना। राष्ट्र, धार्मिक सम्प्रदाय आदि का निर्माण केवल कोई ईंट,पत्थर, सोना-चांदी, धन, दौलत से ही नहीं होता है। उसकी तो मुख्य इकाई मनुष्य होता है, अतः मनुष्य के विकृत होने से धर्म आदि में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्बिना' अर्थात्

धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक में मन नहीं होने के कारण उनमें सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसलिये वे सच्चे धर्म को पालन नहीं कर सकते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय में देव एवं नारकी के केवल पहले से लेकर चतुर्थ सम्यक्त्व गुणस्थान तक होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि देव तथा नारकी आंशिक धर्मपालन कर सकते हैं, पूर्ण धर्म पालन नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच (पशु) के पहले से लेकर पंचमगुणस्थान तक होता है। इसलिये वे देव एवं नारकी से धर्म के पालन करने में एक सोपान/गुणस्थान आगे हैं परन्तु पूर्ण धर्म वे भी पालन नहीं कर सकते हैं। बाकी बचे मनुष्य। मनुष्य में भी जो भोग-भूमिज होते हैं उनके भी पहले के 4 गुणस्थान तथा शूद्र के 5 गुणस्थान तक होते हैं। बाकी बचे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही पूर्ण धर्म को पालन कर सकते हैं। इसलिये धर्म का पालन-पोषण, प्रचार-प्रसार करना इनका परम कर्त्तव्य उत्तरदायित्व/अधिकार है। इसलिए धर्म में जो विकार उत्पन्न होता है, धर्म का ह्रास होता है, धर्म के नाम पर अधर्म अन्याय, अत्याचार, कलह, युद्धादि होते हैं उसके लिए वे ही अधिक उत्तरदायी/दोषी, अपराधी हैं। क्योंकि अधिक उत्तरदायित्त्व ही अधिक अधिकार को प्रदान करता है परन्तु उत्तरदायित्व वहन किये बिना जो अधिकार प्राप्त करना चाहता है, अधिकार का उपभोग करता है, वह अपराधी है। इनसे भी अधिक उत्तरदायित्व साधु-संतों का होता है। साधुओं का धार्मिक अधिकार अधिक है। वे भी यदि अपना कर्तव्य पालन नहीं करते हैं तो वे भी इससे भी अधिक दोषी हैं। सन्तुलित अधिकार एवं कर्त्तव्यपालन से ही विकास सम्भवतः है। सन्तुलन में किसी भी प्रकार गड़बड़ी पैदा होना विनाश का कारण है।

इस कृति को लिखने में सहायता करने वाले, प्रकाशन में आर्थिक सहायता करने वाले, प्रकाशन मुद्रण में सहायता करने वालों को मेरा धर्मवृद्धि आशीर्वाद है।

इस कृति में मैंने अपने हृदय की पीड़ा को लिपिबद्ध करने के साथ-साथ जैन धर्म का प्रचार-प्रसार-विकास हो इस भावना से भिन्न-भिन्न

बिन्दुओं के ऊपर प्रकाश डालते समय अनेक बार विषयों को दोहराया भी है जिससे विषय स्पष्ट हो, कैसे भी हो दूसरों को समझ में आये। इसलिए तर्क एवं व्याकरण ग्रन्थों में जैसे पुनरोक्तिदोष लगता है यहाँ वह दोष नहीं लगता है क्योंकि यह स्वसमय/स्वधर्म की भावना/प्रभावना चर्चा है।

इस कृति का अध्ययन करके आत्म-प्रभावना के साथ-साथ धर्म की प्रभावना करते हुए सम्पूर्ण जीव भगवान् बनें ऐसी शुभकामनाओं के साथ

'जैनं जयतु शासनम्'!
'वर्द्धतां जिनशासनम्'!
'जैनं (जीव) धर्मस्तु मंगलम्'!

आचार्य कनकनन्दीजी
सागवाड़ा (राज.)
(प्रथम संस्करण से)
सन् 1997

गुरुवर का आदर्श - हमारा कर्त्तव्य

(तर्ज - वह शक्ति हमें दो)

हमने जग को तो जगाया है, खुद को भी आज जगायेंगे।
गुरुवर की शपथ निभाने को, हम अपना कदम बढ़ायेंगे।।

धैर्य, क्षमा की भूमि में निष्ठा के बीच लगाना है।
तप, त्याग और संयम की क्यारी को आज सजाना है।।
सत् साम्य सुखामृत सुमनों की मनोहर सुरभि पा जायेंगे। गुरुवर.....

शुभ संकल्पों की ले मशाल क्रांति की अलख जगाना है।
निज आत्मस्वभाव के शंखनाद से निज चैतन्य बुलाना है।।
निज स्वभाव में ध्यान लगा आनंदामृत पा जायेंगे। गुरुवर.....

संकीर्ण स्वार्थमय पंथवाद की उलझन में न आना है।
सब ग्रंथवाद व संतवाद को भी अब दूर हटाना है।।
सुख साम्यवाद को अपनाकर हम सत्यवाद को लायेंगे। गुरुवर.....

छल द्वेष दम्भ पाखण्ड छोड़ निज पद का भी हम ध्यान रखें।
शालीनता और सरलता से हम स्व-पर का कल्याण करें।।
वैयावृत्ति, सेवा, सहयोग की सद्वृत्ति अपनायेंगे। गुरुवर.....

सीपुर से शिवपुर पाने को हमको शुभ लक्ष्य बनाना है।
ये दीन हीन याचक वृत्ति तज स्वाभिमान जगाना है।।
हम हैं वीर की सन्तानें हम वीर वृत्ति अपनायेंगे। गुरुवर.....

आचार्य कनकनंदी गुरुवर के आदर्शों को निभायेंगे।
स्वार्थ त्याग कर शान्ति, समन्वय के हित कदम बढ़ायेंगे।।
गुरुवर के अनुशासन में रहकर हम धर्म ध्वजा फहरायेंगे। गुरुवर.....

प्रस्तुति - आर्यिका क्षमा श्री

जैन धर्मावलम्बियों के नैतिक नियम

1. शराब, माँस, अण्डा, तम्बाकू व तम्बाकू से बनी समस्त चीजों का त्याग।
2. पानी छानकर पियेंगे।
3. लिपिस्टिक, नेलपॉलिश, क्रीम, पाउडर आदि हिंसात्मक प्रसाधन सामग्री का त्याग।
4. बेल्ट, पर्स, चप्पल आदि चर्म निर्मित वस्तुओं का त्याग।
5. रेशमी, ऊनी वस्त्रों का त्याग।
6. प्रतिदिन देवदर्शन करेंगे। (विशेष परिस्थिति में छूट-यथा ऋतु-स्नान रोगादि।)
7. मुनि, आर्यिका आदि त्यागियों को आहारदान देंगे तथा उनकी सेवा करेंगे।
8. मुनिसंघ की निन्दा न करेंगे न सुनेंगे तथा उनकी हर तरह से सहायता करेंगे।
9. मृत्युभोज में न जायेंगे और न ही मृत्युभोज करवायेंगे। बाहर के अतिथियों के लिए छूट।
10. दहेज न लेंगे और न देंगे। या केवल नहीं देंगे।
11. आलू, प्याज, लहसुन आदि जमीकन्द का त्याग।
12. प्रतिदिन यथाशक्ति मौन रखेंगे।
13. किसी की निन्दा नहीं करेंगे तथा झूठ नहीं बोलेंगे जिससे दूसरों को कष्ट हो और हानि उठानी पड़े। (दूसरों को सुधारने के लिए समझाने की छूट)
14. प्रतिवर्ष एक मुनि संघ का तथा तीर्थक्षेत्र का दर्शन करने जायेंगे।
15. रात्रि भोजन का त्याग, मात्र औषधि पानी की छूट रखेंगे।
16. कम तोलकर नहीं देंगें, मिलावट, रिश्वतखोरी, झूठी गवाही नहीं देंगे।
17. अमर्यादित अचार, मुरब्बा, पापड़ नहीं खायेंगे।
18. लॉटरी, ताश, जुआ, सट्टा आदि नहीं खेलेंगे।

19. होटल का भोजन नहीं करेंगे।
20. जीवन में अवश्यमेव आर्यिका या मुनि आदि दीक्षा लेंगे या भावना भायेंगे।
21. जीवन पर्यन्त, विवाह पर्यन्त या कुछ अवधि तक या अष्टमी, चतुर्दशी व पर्यूषणपर्व में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करेंगे।
22. अपनी आय से 25%, 10%, 5% कुछ निश्चित धन प्रतिवर्ष दान में देंगे।
23. शास्त्र प्रकाशित करेंगे या साहित्य के लिए ज्ञान-दान देंगे।
24. किसी को कष्ट नहीं देंगे तथा न ही चुगली करेंगे।
25. सप्ताह में कम से कम एक दिन पूजा करेंगे।
26. प्रतिदिन दो माला णमोकार मंत्र का जाप करेंगे।
27. गर्भपात (भ्रूण हत्या) नहीं करेंगे न ही करवायेंगे।
28. विवाह आदि मांगलिक कार्यक्रम में रात्रि भोजन नहीं करेंगे न करवायेंगे या नहीं कहेंगे।
29. समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त करेंगे या भावना भायेंगे।
30. अश्लील, कलहकारी, हिंसात्मक, गंदी फिल्म नहीं देखेंगे तथा ऐसे साहित्य नहीं पढ़ेंगे।
31. अहंकार नहीं करेंगे।
32. दूसरों के गुणों से ईर्ष्या, द्वेष नहीं करेंगे। गुणी से गुणग्रहण करेंगे।
33. मंदिर में चप्पल, प्रसाधन सामग्री तथा चमड़े से निर्मित वस्तु लेकर नहीं जायेंगे।
34. बिना कारण कभी भी क्रोध नहीं करेंगे।
35. मंदिर में झगड़ा, कलह, निन्दा नहीं करेंगे।
36. धर्म को लेकर झगड़ा, कलह नहीं करेंगे।
37. प्रतिदिन धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करेंगे।
38. छल-कपट तथा धोखा-धड़ी नहीं करेंगे।
39. नशीली चीज न सेवन करेंगे न करवायेंगे न ही विक्रय करेंगे।
40. स्वयं के धार्मिक एवं नैतिक कर्त्तव्य समय पर ठीक ढ़ंग से करेंगे।

41. किसी के भी अच्छे कार्य का विरोध नहीं करेंगे, सहायता यथासंभव करेंगे, प्रशंसा करेंगे।
42. अपना नैतिक कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक समय पर करेंगे। अनुशासन-शालीनता का त्याग नहीं करेंगे।
43. चाय, काफी का त्याग करेंगे।
44. विभिन्न प्रकार के परिग्रहों का निश्चित प्रमाण करेंगे। यथा धन-मकान आदि।
45. धार्मिक साहित्य वितरण करेंगे।

सुयोग्य शिक्षा से क्रांति

शब्द संकलन - आचार्य श्री कनकनंदी जी

जीवन में कुछ करना है तो अयोग्य शिक्षा मत सीखो।
अच्छी शिक्षा पाना है तो हिम्मत हारे मत बैठो।।

सुन्दरता, सुयोग्य संस्कारों हित जीवन मिलता है।
मुश्किल से ये नरतन पाया ये न सबको मिलता है।।
बढ़ो विचारों की सरगम ले टूटे तारों में न उलझो। अच्छी.....

साहस, निर्भय, स्वाभिमान बन तुमको सब कुछ पाना है।
सर्वोदय, सर्वांग विकास की विद्या को अपनाना है।।
केवल पढ़ने पढ़ाने को ही सच्ची शिक्षा मत समझो। अच्छी.....

वर्तमान की अच्छी शिक्षा का भी तुम अभ्यास करो।
प्राचीन संस्कृति और शिक्षा का भी पूरा ध्यान करो।।
आगे-आगे बढ़ना है तो शिक्षा समन्वय की सोचो। अच्छी.....

देश-विदेश की उच्च शिक्षा का ही कोई आधार नहीं।
सत्य, साम्य, सुख, शान्ति के बिन आतम का कोई ज्ञान नहीं।।
भीड़ बढ़ाना, भ्रष्टाचार फैलाने की शिक्षा मत सीखो। अच्छी.....

गर्भ से संस्कारित करना सुशिक्षा कहलाती है।
सम्यक्शिक्षा सर्वोदय विकास का ज्ञान दिलाती है।।
सर्वोदय शिक्षा हेतु अब ले मसाल सब साथ चलो। अच्छी.....

कनकनंदी का भाव यही है शिक्षा क्रांति लाना है।
शंखनाद शिक्षा का करके विश्व में अलग जगाना है।।
आओ मेरे पास भाइयों पाँव पसारे मत बैठो। अच्छी.....

प्रस्तुति - आर्यिका क्षमाश्री माताजी

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
1.	मेरे अनुभवों की गवाक्षों से आचार्य कनकनन्दी	2
2.	आओ परिभाषा हम समझें जैन-धर्म महान् की	14
3.	प्राथमिकी	16
4.	जैन धर्मावलम्बियों के नैतिक-नियम	26
अध्याय -		
1.	अहिंसा का विलोमकरण।	31
2.	प्रयोगधर्मिता में कमी।	37
3.	धर्म की अपेक्षा धन को महत्त्व।	44
4.	अनेकान्त एवं स्याद्वाद का बहिष्कार।	54
5.	नवीन जैन धर्मावलम्बी नहीं बनाना।	59
6.	प्रभावशाली व्यक्तित्व की कमी।	80
7.	समुचित प्रभावना की कमी।	85
8.	उपगूहन-स्थितिकरण-वात्सलय-संगठन की कमी।	94
9.	व्रत/नियम/तपस्या की कठोरता	103
10.	उत्तम उपलब्धि की दुर्लभता।	106
11.	पंचम काल/कलिकाल का प्रभाव।	116
परिशिष्ट (I)		
1.	प्रार्थना/गुरुवन्दना-सूरी कनकनन्दी गुरुवर	124
2.	भजन-गुरु कर दो बेड़ा पार	125
3.	मुक्तक-	125
4.	भजन-कनकनन्दी नाम तिहारो	126
5.	कविता-एक बार हे मन	126
6.	भजन-समता गवेषक सच्चे श्रमण	127
7.	शिविरगान-शिविर में आओ	127
8.	भजन-महान् भारत बनाम इण्डिया	128
परिशिष्ट (II)		
1.	आचार्य श्री कनकनन्दी ससंघ सम्बन्धी संस्था, वेबसाइट आदि-	129

2. विश्वविद्यालय में आ.कनकनन्दी साहित्य कक्ष की स्थापना एवं शोधकार्य- 130
3. सीपुर क्षेत्र के महान् कार्य, नियम (संविधान) तथा 21 चातुर्मास- 133
4. विकासादि गणितीय आयाम-सूत्र 134

हिंसात्मक है रसोई गैस

शब्द संकलन - आचार्य श्री कनकनंदी जी

अब सुरक्षित नहीं आज कोई यहाँ
अशुद्ध वातावरणमय जीवन ये हुआ
घर में जलती थी चूल्हे में जब लकड़ियाँ।
फिर भी कम था प्रदूषण दिखता था धुआँ।।
उस धुएँ में इतना जहर भी न था।
और मरने का ज्यादा भय भी न था।।
बंद हमने किया अपने घर का धुआँ। अशुद्ध.....
स्वाद भोजन का मानो मिष्ठान्न सा।
शक्ति देता था भोजन भी वरदान सा।।
आज विज्ञान वरदान भी है बना।
किन्तु अभिशाप बनकर भी है खड़ा।।
आज सुविधा ने दुविधा को इतना छुआ। अशुद्ध.....
गैस चूल्हा जला घर धुएँ से बचा।
हमने पायी है इसकी भी दुगुनी सजा।।
आज हर पल सभी को मिला है जहर।
जान लेने लगा आज अपना ही घर।।
स्वास्थ्य गिरने का गहरा असर भी हुआ। अशुद्ध.....
गैस निर्जीव खनिज से बनता नहीं।
वह एकेन्द्रिय आदि का तन भी नहीं।।
ये तो पंचेन्द्रिय जीवों का जीवाश्म है।
जिनके जिस्मों से बनती यह वाष्प है।।
उसी वाष्प का रूप गैसों में हुआ। अशुद्ध.....
गैस चूल्हे का भोजन रूचि कम करे।
स्वाद-बेस्वाद होकर न तन में लगे।।
घर की महिला रसोई में पल-पल मरे।
गैस जहरीली हरपल जहाँ पर रिसे।।
श्वास नलिका में कार्बन का जाये धुआँ। अशुद्ध.....
कार्बन नाइट्रोजन आदि का उधम बढ़ा।
घर का वायु प्रदूषण भी ज्यादा करा।।
जिसके उत्पादन में हुई है हिंसा महा।
आज हमने अहिंसक उसको कहा।।
कनकनंदी को इसका अनुभव हुआ। अशुद्ध.....

अध्याय -1

अहिंसा का विलोमकरण

जैन धर्मावलम्बियों की संख्या/उपलब्धि कम न हो तो कैसे?

जैन धर्म वस्तु स्वभाव, प्राकृतिक धर्म होने के कारण जब से वस्तु है तब से धर्म है। प्रकारान्तर से कहें तो वस्तु शाश्वतिक, अनादि अनिधन होने से जैन धर्म भी शाश्वतिक एवं अनादि अनिधन है। लिखित उपलब्ध साहित्य में वेद प्राचीनतम होने से और वेद में जैन धर्म के तीर्थंकरों का निर्देश होने से सिद्ध होता है कि वेद के पहले से भी जैन धर्म था। संक्षिप्ततः कहा जावे तो जैन धर्म प्राचीनतम धर्म है। इसके सिद्धान्त, स्वरूप, प्राकृतिक, सर्वजीवहिताय, सर्वजीवसुखाय होने से यह धर्म सब के लिए सब के द्वारा, सब के निमित्त से है। यह धर्म केवल लोकतंत्र नहीं है परन्तु लोक (3 लोक-विश्व) तंत्र है/जीव तंत्र है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु स्वरूप धर्म को स्वीकार करके जैन धर्म ने वैज्ञानिक विश्वधर्म का स्थान प्राप्त किया तो 'सर्वजीवसुखाय, सर्वजीवहिताय' को स्वीकार करके जीव कल्याणकारी विश्वधर्म बना तथा सर्वजीव के सर्वोदय के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, सरलता, नम्रता, पवित्रता, तप, त्याग, दान, वात्सल्य, परोपकार, सच्चा विश्वास, सच्चा विज्ञान, सदाचार, अनेकान्त-स्याद्वाद, समता का प्रतिपादन करके अध्यात्मिक रूप से विश्व धर्म में गौरवमय स्थान प्राप्त किया। इन सब उपलब्धियों के बावजूद आधुनिक ज्ञात पृथ्वी में जैनियों की बहुत ही कम संख्या/उपलब्धि स्वयंमेव एक प्रश्न है, पहलू है। 1981 की जनगणना के अनुसार धार्मिक अल्पसंख्यक कुल आबादी का 17.4 प्रतिशत है। जिसमें मुसलमान 11.4 प्रतिशत, ईसाई 2.4 प्रतिशत, सिक्ख 2 प्रतिशत, बौद्ध 0.7 प्रतिशत तथा जैन 0.5 प्रतिशत है। इससे स्पष्ट है कि भारत में प्रत्येक 10 हजार व्यक्तियों में 8264 हिन्दु, 1135 मुसलमान, 243 ईसाई, 196 सिक्ख, 71 बौद्ध तथा केवल 48 जैन हैं। भारत में ही इनके अनुपात 0.5=1/2% है तो अन्य देश में इनका अनुपात और भी कम है। इस प्रश्न का समाधान हम निम्नांकित विभिन्न दृष्टिकोण-पहलुओं से एक खोज पूर्ण नम्र प्रयास से कर रहे हैं-

(1) अहिंसा का विलोमकरण: जैन धर्म में अहिंसा का जितना सूक्ष्म, व्यापक, सांगोपांग, निर्दोष, सार्वभौम, कर्म सापेक्ष, गणितीय, वैज्ञानिक वर्णन एवं महत्त्व है वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता है। इसे देश-विदेश के विचारक-मनीषियों ने भी स्वीकार किया है। कुछ पाश्चात्य मनीषियों ने तो यहाँ तक माना है कि जैन धर्म में अहिंसा को अधिक महत्त्व देने के कारण जैन धर्म में जीवों का शोध-बोध, वर्णन अधिक पाया जाता है। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक आक्षेप लगाया है कि जब सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में स्थूल सूक्ष्म जीव ठसाठस भरे हुए हैं तो जैन लोग अहिंसा का पालन पूर्णरूप से कैसे कर सकते हैं? इसका समाधान यह है कि भाव अहिंसा/अप्रमाद/प्रयत्नाचार के कारण जीव से पूर्ण विश्व में भी अहिंसा का पालन हो सकता है। प्रत्येक सूक्ष्म-स्थूल एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी, मनुष्य, सहधर्मी, गुरु, पंचपरमेष्ठी की सुरक्षा/अहिंसा का पालन करना चाहिए परन्तु उत्तरोत्तर एकेन्द्रिय आदि से लेकर पंचपरमेष्ठी की अहिंसा/सुरक्षा अधिक से अधिक करना चाहिए। क्योंकि इनमें उत्तरोत्तर प्राण, संवेदना, पुण्य आदि अधिक होते हैं। जिससे मारने एवं मरने वालों को अधिक संक्लेश/वेदना होती है। इसलिए उत्तरोत्तर जीवों को कष्ट देने वाला अधिक पापी है। अन्य एक कारण यह है कि जैन श्रावक जीवीकोपार्जन के लिए, जीवननिर्वाह के लिए प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से एकेन्द्रिय जीवों के ऊपर निर्भर रहता है। इसलिए उससे एकेन्द्रिय जीवों का घात अनुसंगिक रूप से हो जाता है। परन्तु इसमें भी प्रयत्नवान् रहना चाहिए जिससे कि अनावश्यक एकेन्द्रिय जीवों का घात नहीं हो। जिनसेनाचार्य ने आदि पुराण में कहा भी है--

जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज (व्रती, साधु) अवध्याधिकार में भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणों की अधिकता के कारण किसी दूसरे के द्वारा वध करने योग्य नहीं होता।

सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः।
गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वंधेऽपि द्वयात्मता मता।। (195)

सब प्राणियों को नहीं मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणों (साधु,व्रती) को नहीं मारना चाहिए। इस प्रकार गुणों की अधिकता और होनता से हिंसा

में भी दो भेद माने गये हैं।

इसलिये यह धार्मिक जनों में अपनी अवध्यता को पुष्ट करे। यथार्थ में वह धर्म का ही माहात्म्य है कि जो इस धर्म में स्थित रहकर किसी से तिरस्कृत नहीं हो पाता। यदि वह अपनी अवध्यता को पुष्ट न करेगा तो सब लोगों से वध्य हो जायेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होने पर अर्हन्त देव के धर्म की प्रमाणिकता नष्ट हो जायेगी।

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः।
स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे।। (198)

इसलिए सब प्रकार के प्रयत्नों से सनातन धर्म की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थों से भरे हुए संसार में उसकी रक्षा कर सकता है।

गुण-गुणी, धर्म-धर्मी में अभेदता है। जैसाकि समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है। जैसेः अग्नि की उष्णता अग्नि के बिना नहीं रहती है। इसलिए धर्मात्माओं को कष्ट देना, उनका अपमान करना, उनको नष्ट करना माने धर्म का ही अपमान करना है। धर्मात्मा लोग समाज, धर्म, राष्ट्र के लिए आदर्श दीप स्तम्भ के समान होते हैं। जैसे - प्रकाश के बिना सामान्य जीवों को चक्षु से कुछ नहीं दिखाई देता है इसी प्रकार सामान्य जन भी धर्मात्माओं के बिना धर्म का स्वरूप नहीं जान पाते हैं।

जैसे हिन्दु धर्म में भी कहा है --

यद्यदाचरित श्रेष्ठ स्तत्तदेवेत्तरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

जो श्रेष्ठ पुरुष आचरण करते हैं वो ही आचरण दूसरे लोग भी अनुकरण करते हैं। वे जो प्रमाण करते हैं लोग उस प्रमाण के अनुसार अनुकरण करते हैं। इसलिये कहा गया है कि-**'महाजनो येन गताः सः पन्थाः'** महापुरुष जिस मार्ग पर चलते हैं वह ही मार्ग दूसरों के लिए अनुकरण के योग्य हो जाता है। इन महापुरुषों के बिना उपरोक्त कार्य नहीं हो सकता है। उनके अभाव से समाज में राष्ट्र में प्रकृति में विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए

कहा गया है कि - 'यदि न होते सन्त संसार में, तो जल जाता संसार'। इसलिए धर्मात्मा व्यक्ति दण्डनीय नहीं है। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि प्रायः अधिकांश जैनी लोग इससे विपरीत व्यवहार करते हैं। जो एकेन्द्रिय सूक्ष्म, अदृश्य जीवों की रक्षा की चर्चा करते हैं वे भी पंचेन्द्रिय और उसमें भी मनुष्य, मनुष्य में भी सहधर्मी, सहधर्मी में भी साधु-सन्त से वैरभाव, घृणाभाव, हिंसाभाव रखते हैं। कुछ व्रती, आर्यिका, साधु, उपाध्याय, आचार्य भी परस्पर में घृणा, वैरत्व करते रहते हैं। यहाँ तक कि गुरु-शिष्य में भी वात्सल्य, विनम्र, सरल, सहजभाव नहीं रहता है। आहार, विहार, पूजा-पाठ, शिक्षा, दीक्षा में यत्किंचित् कमवेशी होने पर वे परस्पर में घृणा, विरोध, वैरत्व करते रहते हैं। द्रव्यहिंसा के बिना भी यह भाव ही महान् भाव हिंसा है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है-

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारणस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्य णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्य।। (प्र.सा.गा. 217)

जीव मरे या जीता रहे, जो यत्नपूर्वक आचरण से रहित है उसके निश्चय से हिंसा है और जो समितिओं में प्रयत्नशील है उसके द्रव्यप्राणों के हिंसा मात्र से बन्ध नहीं हो जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरी ने तो दूषित आत्मपरिणाम को भाव हिंसा कहा है। उन्होंने आगमोक्ततर्क से यह सिद्ध किया कि चोरी, असत्य, अब्रह्मचर्य, अपरिग्रह भी दूषित भाव से होते हैं। इसीलिये ये भी हिंसा ही है। केवल मन्द प्रज्ञावाले पर्याय दृष्टि के शिष्यों को समझाने के लिए पाचों पापों को अलग-अलग कहा गया है। यथा -

आत्मपरिणामहिंसन्हेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अमृतवचनादिकेवलमुहाहृतं शिष्यबोधाय।। (42)

पृ.104 पुरुषार्थ सिद्धि.

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है। असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोध करने के लिये कहे गये हैं।

यत्खलु कषायोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणम्।
व्ययरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।। (43)

निश्चय करके कषाय सहित योगों से द्रव्य और भाव रूप प्राणों को जो नष्ट करना है वह निश्चत रूप से हिंसा होती है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेपोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। (44)

निश्चय करके रागादिक भावों का उदय में नहीं आना अहिंसा कहलाती है। इसी प्रकार एवं उन्हीं रागादिक भावों की उत्पत्ति का होना हिंसा है। इस प्रकार जिनागम का अर्थात् जैन सिद्धान्त सारभूत रहस्य है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।। (45)

योग्य आचरण वाले अर्थात् यत्नाचार पूर्वक सावधानी से कार्य करने वाले सज्जन पुरुष को रागादिरूप परिणामों के उदय हुए बिना प्राणों का घात होने मात्र से कभी निश्चय करके हिंसा नहीं लगती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तयाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।। (46)

रागादिको के वेश में प्रवर्तित प्रमाद अवस्था में जीव मर जाए अथवा नहीं मरे नियम से हिंसा आगे दौड़ती है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथमात्मनात्मानं।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंत्तराणं तु।। (47)

क्योंकि आत्मा कषाय सहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने आपको मार डालता है पीछे दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा नहीं हो।

हिंसायामविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यापरोपणं नित्यं।। (48)

हिंसा से विरक्तन होना तथा हिंसा में परिणमन करना हिंसा कहलाती है। इसलिए प्रमत्त योग में नियम से प्राणों का घात होना है।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृतिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।। (49)

निश्चय करके आत्मा के सूक्ष्म भी हिंसा जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी नहीं होती है। तो भी परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के आयतनों-हिंसा के निमित्त कारणों का त्याग करना चाहिए।

इससे सिद्ध हो जाता है कि जो क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात, हठाग्रह, परनिन्दक आदि दुर्गुणों से युक्तहै वह ऐकेन्द्रिय जीव की भी द्रव्य हिंसा नहीं करता है तो भी वह पूर्ण हिंसक ही है। जैसा कि अरबों जीवों को खाने वाला महामत्स्य सप्तम नरक जाता है और एक भी जीव को नहीं खाने वाला तंदुलमत्स्य दूषित परिणाम/भावहिंसा के कारण सप्तम भी नरक जाता है।

कलिकाल का चित्रण करते हुए कहा है - 'परेषु मैत्री स्वजनेषु वैरं' अर्थात् दूसरों से मित्रता तथा स्वजन से वैरत्व रखना यह कलिकाल की विडम्बना है। इससे साधर्मियों में परस्पर प्रेम, सौहार्द्र, संगठन नहीं होता है। उनमें तेजस्विता प्रभावोत्पादकता, गौरवमय व्यक्तित्व नहीं होता है जिससे स्वयं में भी प्रभावना प्रचार-प्रसार नहीं कर पाते हैं और अन्य में भी प्रचार-प्रसार नहीं कर पाते हैं जिससे जैनियों की संख्या कम है।

जीवनोपयोगी दोहा द्वादश - आचार्य श्री कनकनन्दी

समय पे सो समय पे जागो, समय पे करो ध्यान।
समय पे हो शौचक्रिया और समय पे करो स्नान ।।1।।

***

समय पे करो प्रातःभ्रमण, यौगिक क्रिया-सत्कर्म।
भोजन हो सात्त्विक और निरामिष अन्न-पान ।।2।।

प्रयोगधर्मिता में कमी

किसी ने विदेश में विवेकानन्दजी से प्रश्न किया था - 'स्वामीजी आप बताते हो कि भारत की संस्कृति बहुत प्राचीन एवं श्रेष्ठ है परन्तु हमें विश्वास नहीं होता है क्योंकि महान् संस्कृति वाला देश कभी भी परतंत्र नहीं होता है। परन्तु भारत सैकड़ों वर्षों से परतंत्र है।' स्वामी ने उत्तर दिया- ''केवल किसी के पास अस्त्र-शस्त्र अच्छा होने से उसकी आत्मरक्षा नहीं हो जाती है जब तक कि उसका प्रयोग वह सही रीति से नहीं करता है।'' इसी प्रकार केवल भारतीय संस्कृति महान् होने से काम नहीं चलेगा। उसका प्रयोग करने वाला भी महान् होना चाहिए। इतना ही नहीं धर्म का दुरुपयोग भी किया जाता है। यथा--

धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिनोऽधमाः।
अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड़ चेतसा।।

अर्थात् बहुशः अधम प्राणी विचार जड़ चित्त से अधर्म को ही सेवन करता है।

जैन धर्म, निज धर्म, जीव धर्म, वस्तु स्वभाव धर्म, अनेकांत धर्म, विश्वधर्म, रत्नत्रत्यामक धर्म (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) विश्वास, विवेक एवं क्रिया/देखभाल और कर/Heart (हृदय, श्रद्धा) Head (मस्तिष्क-विज्ञान) Hand (कर-कार्य-आचरण) होने से इसे निष्पक्षपात से सविवेक, सहृदय, परीक्षण, निरीक्षण करके जानना, मानना तथा आचरण के द्वारा पाना चाहिए।

उपर्युक्तप्रयोगात्मक सार्वभौम धर्म को यदि कोई एकाकी पक्ष को, स्वार्थ से, संकीर्णता से, परंपरा से, दिखावे के लिए, दूसरों को ठगने के लिए, अहंकार की संतुष्टि के लिए, नाम, प्रसिद्धि-कीर्ति के लिए पालन करता है तो वह यथार्थ से धर्मात्मा नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रकाश नीचे डाल रहा हूँ।

कषाय के आवेश से पर के प्राणों को हनन करना जिस प्रकार हिंसा है उसी प्रकार कषाय से आवेशित होकर वचन प्रयोग करना, धन कमाना,

दूसरों को ठगना, कूट-कपट करना, मिलावट करना, कमवेशी माप-तोल करना, लोभ प्रवृत्ति से धनसंचय करना आदि भा हिंसा ही है। अभी अधिकांश जैन व्यापारी होने से कृषि आदि हिंसा से जैन बच जाते हैं परन्तु व्यापार आदि में भाव हिंसा प्रचुर मात्रा में करते हैं।

आचार्य अमृतचन्दजी ने मिथ्या-कथन तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष चोरी को भी हिंसा ही कहा है। यथा-

असत्यरूपी हिंसा का लक्षण -

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः संति चत्वारः।। (91)

(पु. सि. पृ. 139)

जो कुछ भी प्रमाद के योग से यह असत्य कथन कहा जाता है, वह असत्य जानना चाहिये उस असत्य के भेद भी चार हैं।

(1) सत्य का निषेध करना : हिंसा -

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्यते वस्तु।
तत्प्रथमसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।। (92)

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विद्यमान भी वस्तु जिस वचन में निषिद्ध की जाती है वह पहला असत्य है। जैसे यहाँ पर देवदत्त नहीं है।

(2) असत्य का कथनः हिंसा -

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र पर क्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः।। (93)

जिस वचन में अविद्यमान भी वस्तुस्वरूप उन भिन्नक्षेत्र, भिन्नकाल, भिन्नभावों द्वारा कहा जाता है वह दूसरे प्रकार का झूठ है जिस प्रकार इस जगह घट है।

(3) अन्यथा रूप कथनः हिंसा -

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः।। (94)

जिस वचन में अपने स्वरूप से वस्तु उपस्थित है तो भी परस्वरूप से

कहा जाता है, यह झूठ का तीसरा भेद समझना चाहिये। जिस प्रकार गौ को घोड़ा कह देना।

(4) अशिष्टादि कथनः हिंसा -

गर्हितमवद्यसंयतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु।। (95)

जो वचनस्वरूप निंदनीय, दोषसहित और अप्रिय कठोर होता है इस प्रकार यह चौथा झूठ सामान्यरीति से तीन प्रकार माना गया है।

गर्हित वचन रूपी हिंसा -

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्चसं प्रलापितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।। (96)

पिशुनपना अर्थात् चुगलखोरी दूसरों की झूठी-साँची बुराई करना, हँसी सहित वचन बोलना, क्रोधपूर्ण दूसरे के तिरस्कार करने वाले वचन बोलना, कुछ का कुछ असंबद्ध बोलना, जिन वचनों का कोई उपर्युक्तअर्थ नहीं है ऐसे निरर्थक एवं निःस्सार वचनों का बोलना और भी जो वचन भगवत् आज्ञा से विरूद्ध जिनागमकथित सूत्रों के आज्ञाओं से विरूद्ध है वह सब वचन निंद्य कहा गया है।

सावद्य वचन रूपी हिंसा -

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते।। (97)

छेदना, भेदना, मारण, खेती, वाणिज्य और चोरी आदि का जो वचन है, वह दोष सहित वचन है क्योंकि इन वचनों से प्राणियों का वध आदि हिंसा के कार्य होते हैं।

अप्रिय वचन रूपी हिंसा -

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।। (98)

चित्त में आकुलता पैदा करने वाला एवं धैर्य को नष्ट करने वाला विद्वेषोत्पादक भय उत्पन्न करने वाला, चित्त में खेद पश्चाताप उत्पन्न

करने वाला, शत्रुता उत्पन्न करने वाला, शोक उत्पन्न करने वाला, लड़ाई झगड़ा उत्पन्न करने वाला और जो भी दूसरों को संताप कष्ट देने वाला वचन है वह समस्त अप्रिय असुहावन-श्रवण-कटु वचन समझना चाहिए।

झूठ वचन से हिंसा होती है-

सर्वस्मिन्नप्यास्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवस (त) रति।। (99)

इस समस्त निरूपण में ही क्योंकि एक प्रमादयोग ही जिसमें कारण है ऐसा कथन होता है इसलिए झूठ वचन में भी हिंसा नियम से होती है।

चोरी रूपी हिंसा -

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।। (102)

जो प्रमाद के योग से बिना दिये हुए परिग्रह को ग्रहण करता है तो वह चोरी जानना चाहिये और वहीं हिंसा का कारण होने से हिंसा है।

धन हरण : प्राण हरण -

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसा।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।। (103)

जितने में धन धान्य आदि पदार्थ हैं ये पुरुषों के ब्राह्यप्राण हैं। जो पुरुष जिसके धन धान्य आदि पदार्थों को हरण करता है वह उसके प्राणों का नाश करता है।

जहाँ चोरी वहाँ हिंसा -

हिंसाय स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव स यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः।। (104)

हिंसा की और चोरी की अव्याप्ति नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार की गई द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमादयोग अच्छी तरह घटता है इसलिए हिंसा वहाँ होती ही है।

वीतरागी : अहिंसक

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्।। (105)

प्रमादयोगरूप एक कारण का विरोध होने से और कर्म के ग्रहण करने में वीतराग मुनियों के प्रमादयोग का अभाव होने से उन के चोरी और हिंसा में अतिव्याप्ति भी नहीं है।

अनेक जैनी व्यापार में झूठ, मायाचारी, मिलावट, घोटाला, धोखा-धड़ी, दूसरों को ठगना, अधिक मूल्य लेना, अधिक ब्याज लेना आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों को व्यापार की कला मानते हैं। परन्तु उपर्युक्तआचार्य के कथन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यह सब हिंसा ही है। मुझे अनेक अजैन एवं जैन बन्धुओं ने शिकायत की कि गुरुदेव! जैन व्यापारी तो अधिक खून पीते हैं (व्यापार में दूसरों का अधिक शोषण करते हैं) इस दुष्प्रवृत्ति के कारण दूसरों को जैनी तथा जैन धर्म से आस्था कम होती है। जैनिओं की बाह्य क्रिया काण्ड को ढकोसला-आडम्बर मानते हैं। वे मानते हैं जैनियों की अहिंसा केवल वचन में, रसोई में, एकेन्द्रिय-कीड़े-मकोड़े में है; मनुष्यों के लिए नहीं है। वे यह भी मानते हैं और कहते हैं कि "जैनी पानी पीयेंगे छानकर और जीव मारेंगे जानकर"।

कुछ जैनी तो स्वयं मांस, चर्म, खून, हड्डी, मद्य, तम्बाकू आदि का न सेवन करते हैं न परिवार वालों को सेवन करने देते हैं, परन्तु इसका (चमड़े के जूते, चप्पल, बैग, बीड़ी, गुटका, लिपिस्टिक, नेलपॉलिश, निशिद्ध व्यापारादि) निर्माण, विक्रय खूब जोर शोर से करते हैं। परन्तु जैन धर्म के अनुसार निर्माण, विक्रय करना-करवाना सब पाप है - हिंसा है। व्यापक दृष्टि से - गहनता से विचार करने पर सिद्ध होता है कि स्वयं के सेवन से भी निर्माण तथा विक्रय से अधिक पाप है। क्योंकि स्वयं के सेवन करने से केवल स्वयं को पाप लगेगा परन्तु निर्माण तथा विक्रय करने से स्वयं के साथ-साथ सेवन करने वाले हजारों, लाखों को भी पाप लगेगा। जैसा कि विष पीने से तो स्वयं ही मरेगा, परन्तु दूसरों को विष पिलाने से लाखों, करोड़ों को भी मार सकता है। इस प्रकार ही निर्माणकर्ता, विक्रयकर्ता, सेवनकर्ता से भी अधिक पापी है। अमृतचन्द सूरि ने हिंसा एवं अहिंसा का

सूक्ष्म एवं व्यापक वर्णन करते हुए कहा है-

हिंसा अहिंसा के पात्र -

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरोहिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।। (51)

निश्चय से हिंसा को नहीं करके भी एक कोई जीव हिंसा के फल का भोक्ता होता है, दूसरा जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल का भाजन नहीं होता है।

एकस्याल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वलपफला भवति परिपाके।। (52)

किसी को थोड़ी भी हिंसा समय पर उदय काल में बहुत फल को देती है। किसी जीव को बहुत बढ़ी हुई हिंसा भी फलकाल में थोड़ा फल देने वाली हो जाती है।

एकस्यैव तीव्र दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणारपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले।। (53)

दो पुरुषों के द्वारा साथ-साथ की गई भी हिंसा फल काल प्राप्त होने पर आत्मा में विचित्रता को प्राप्त होती है। वही हिंसा एक जीव को तीव्र फल देती है। वहीं हिंसा दूसरे जीव को मंद फल देती है।

प्रागेव फलति हिंसाक्रियमाणा फलति, फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्त्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।। (54)

कोई हिंसा पहले ही फल देती है, कोई हिंसा करते करते फल देती है, कोई हिंसा कर चुकने पर फल देती है और कोई हिंसा आरम्भ करके बिना किये भी फल देती है। इस प्रकार भावों के अनुसार हिंसा फल देती है।

हिंसा कर्त्ता एक, फल भोक्ता अनेक -

एकः करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंलाफलभुग्भवत्येकः।। (55)

एक जीव हिंसा करता है फल के भागी बहुत होते हैं, बहुत जोव हिंसा करते हैं - हिंसा के फल का भागी एक होता है।

कस्यापि दिशाति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्।। (56)

किसी जीव को तो हिंसा फल काल में एक ही हिंसा रूपी फल को देती है दूसरे जीव को वहीं हिंसा बड़े भारी अहिंसा रूपी फल को देती है।

हिंसा अहिंसा का फल -

हिंसा फलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्।। (57)

किसी को तो अहिंसा उदयकाल हिंसा के फल को देती है और किसी को हिंसा अहिंसा के फल को देती है और फल को नहीं।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्चमानासु मांसपेशिषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां।। (67)

कच्ची, पकी हुई भी, पकती हुई मांस की पेशिओं में उसी जाति के निगोद जीव राशियों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।

मांस के स्पर्श से भी हिंसा -

आमां वा पक्कं वा खादति यः स्पृश्यति पिशितपेशिम्।
स निहंति सततनिचितं पिंडं बहुजीव कोटिनाम्। (68)

जो कच्ची अथवा पकाई हुई मांस की डली को खाता है अथवा स्पर्श करता है वह अनन्त जीव राशियों के निरन्तर संचित हुए पिंड को नष्ट कर देता है। (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय पृ. 124)

जीवनोपयोगी दोहा द्वादश - आचार्य श्री कनकनन्दी

भोजन के आदि और अन्त में धो हाथ-पैर हो कुल्ला।
आदि में मधुर चिकनाई सत्त्व अन्त में लघु वाला ।।3।।

***

मध्य-मध्य में पीओ पानी शुद्ध चबाओ बत्तीस बारा।
मौन पूर्वक हो शान्तचित्त, न हो कभी उतावला ।।4।।

अध्याय -3

धर्म की अपेक्षा धन को महत्व

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयाः सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ते।।

जिसके (पास) धन होता है वही मनुष्य कुलीन, वही पंडित, वही श्रुतज्ञ और गुणवान तथा वह ही वक्ता और दर्शनीय होता है। यथार्थ में सभी गुण द्रव्याश्रित हैं अथवा द्रव्य का आश्रय लेते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में नीतिकारों ने व्यंगात्मक शैली से धनवान का एक चित्रण किया है। इससे अनेक रहस्य उद्घाटित होते हैं। एक रहस्य यह है कि संसारवस्था-गृहस्थाश्रम में धन की आवश्यकता अवश्य होती है। इसके बिना गृहस्थों के धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ सुचारू रूप से निर्वाह नहीं होते हैं। इसीलिये आचार्यों ने गृहस्थियों के लिए निर्देश दिया - "न्यायोपात्त धनंयजन्" अर्थात् न्याय से धन प्राप्त करो। इसके साथ-साथ यह भी निर्देश दिया कि परिग्रह को सीमित करो। कम करो अर्थात् परिग्रह परिमाण व्रत को धारण करो। अधिक धन को दान में वितरित कर दो। इस व्यंग्यात्मक श्लोक में यह भी ध्वनित होता है कि संसारी मोही जीव धनवान् को अति महत्व देता है। धनवान् व्यक्ति भी स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न-सर्वेसर्वा-सर्वश्रेष्ठ मान लेता है। इसलिये धन कमाने में और संचय करने में येन-केन-प्रकारेण लगे रहते हैं। एक तो वर्तमान भौतिक भोगवादी युग है। उसमें फिर अधिकांश जैनी व्यापारी होने से वे हर क्षेत्र में भले वह व्यापार हो, सामाजिक-पारिवारिक हो, यहां तक कि धार्मिक कार्यक्रम हो धन को ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्रत्येक कार्यचक्र धन की धुरी को केन्द्र करके घूमता है। प्रवचन (पं.के भाषण) पंचकल्याणक, अभिषेक, आरती, पूजा, प्रतिष्ठा, पूजा-विधान आदि में धर्म के परिवर्तन में धन कमाना उद्देश्य रहता है। किसी धार्मिक कार्यक्रम की सफलता उस कार्यक्रम से प्राप्त लाभांश धन से आंकी जाती है। जिनके गुरु परिग्रह को सबसे बड़ा पाप मानकर वस्त्र तक त्याग कर देते हैं उनके भक्त-अनुयायी वर्तमान धर्म के परिवर्तन में धन बटोरने में लगे हुए हैं। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने जैन साधुओं के परिग्रह त्याग के कारणों में कहा है-

द्रव्य हिंसा से बंध भजनीय किन्तु परिग्रह से बंध अवश्य है-

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीववधे कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुनधीदो इदि समणा छाड्डियां सव्वं।। (219)

आगे आचर्य कहते हैं कि बाहरी जीव का घात होने पर बन्ध होता है तथा नहीं भी होता है, परन्तु परिग्रह के होते हुए तो नियम से बंध होता है।

(कायचेट्ठम्मि) शरीर से हलन-चलन आदि क्रिया के होते हुए (जीववधे) किसी जन्तु के मरजाने पर (हि) निश्चय से (बंधो हवदि) कर्मबन्ध होता है (वा न हवदि) अथवा नहीं होता है (अध) परन्तु (उवधीदो) परिग्रह के निमित्त से (बंधो धुवं) बंध निश्चय से होता ही है (इदि) इसलिए (समणा) साधुओं ने (सव्व) सर्व परिग्रह को (छड्डियां) छोड़ दिया।

इस गाथा में आचार्य कुन्द कुन्द भगवन्त ने एक महान् आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। शान्त, स्वाभाविक, शुद्ध स्वभाव का हनन जिन, राग, द्वेष, मोह, ममत्व, इच्छादि भावों से होता है उसे ही निश्चय से हिंसा कहते हैं अर्थात् वैभाविक भाव से हिंसा है एवं स्वभाव ही 'अहिंसा' है। वैभाविक भावों से रहित जीव के काय की क्रिया से यदि कोई जीव मर जाता है तथापि उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। इसलिये द्रव्य हिंसक, भाव अहिंसक हो सकता है, परन्तु जो बाह्य परिग्रहधारी है वह अवश्य अन्तरंग परिग्रहधारी है क्योंकि बिना अन्तरंग के मोह, ममत्व, तृष्णा, लोभ के बाह्य परिग्रह को नहीं स्वीकार कर सकता है और मोह, ममत्वादि ही यथार्थ से हिंसा है। इसलिये परिग्रह धारी अवश्य हिंसक है और उसे अवश्य कर्मबन्ध होता है। इस दृष्टि से हिंसक से भी महाहिंसक परिग्रहधारी है इसलिये अमृतचन्द्रसूरि ने इस गाथा की टीका में कहा है कि-परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावपना है उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चय अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बन्ध निश्चित है। इसलिए अभी तक जितने भगवान् बने पहले वे परिग्रह को त्याग कर के ही अहिंसक बने। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है -

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधै।।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरूणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः।। (4)

(पृ.132 स्वयंभू स्त्रोत)

हे भगवान! प्राणियों की अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु वह अहिंसा उस आश्रय विधि में नहीं है जिसमें थोड़ा भी आरम्भ होता है इसलिये उस अहिंसा धर्म को सिद्धि के लिये परम दयालु होकर आपने ही बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है और यथा-जात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह से आसक्त नहीं हुए हैं।

अन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह पर स्वरूप है। जहाँ पर संयोग है, वहाँ बन्ध है जहाँ बन्ध है वहाँ दुःख ही दुःख है। इसीलिये मुमुक्षु परिग्रह को दुष्टग्रह, ग्राह (मगरमच्छ) से भी अधिक दुःखदायी मानकर त्याग देते हैं।

पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

पर परस्ततो दुःखमात्मवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।। (45)

(पृ.209 इष्टोपदेश)

देहादि पर पदार्थ तो पर ही है उन्हें अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा आत्मा ही है-आत्मा पदार्थ अपना है वह अपना ही रहेगा वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता - उसे अपनाने से सुख प्राप्त होता है। इसलिये तीर्थंकरादि महापुरूषों ने आत्मा के लिये ही उद्योग किया है। विविध घोर तपश्चरण के अनुष्ठान द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति की है।

अविद्वान् पुद्गल द्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।। (46)

अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है अतएव पुद्गल द्रव्य चारों गतियों में आत्मा का सम्बन्ध नहीं छोड़ता - वह बराबर साथ बना रहता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने परिग्रह एवं हिंसा को अभिन्न सिद्ध

किया है क्योंकि हिंसा पाप प्रमाद से होता है तथा परिग्रह पाप भी प्रमाद से होता है। अतः दोनों के कारण एक होने से हिंसा एवं परिग्रह में कोई अन्तर नहीं है। यथा-

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्व परिणामः।। (पु.सि.पृ 150)

जो यह मूर्च्छा है यह ही परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेष संगेभ्यः।। (112)

परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार बहिरंग और अन्तरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है। बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्च्छावाला परिग्रहवाला है।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छा निमित्तत्वम्।। (113)

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही किया जाता है। उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग नहीं ठहरता है। इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलता है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह सदा मूर्च्छा का निमित्तकारण होने से अर्थात् 'यह मेरा है' ऐसा ममत्व परिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्च्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

अथ निश्चित सचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भैदो द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोप्यतिवर्तते हिंसा।। (117)

इसके अनन्त बाह्य परिग्रह के भेद बतलाते हैं। बाह्य परिग्रह के अचेतन और सचेतन दो भेद हैं। यह दोनों प्रकार का सभी परिग्रह कभी भी हिंसा का अतिवर्तन नहीं करता है।

उभय परिग्रह वर्जनमाचार्यः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविध परिग्रह वहनं हिंसेति जिन प्रवचनज्ञाः।। (119)

जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट आगम को जानने वाले श्री परमगुरु आचार्य

महाराज सचित्त-अचित्त इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ना अहिंसा है ऐसा सूचित करते हैं और दोनों प्रकार के परिग्रहों का ग्रहण करना हिंसा है सूचित करते हैं।

हिंसा पयार्यात्वात्तुसिद्धा हिंसातरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूच्छैर्व हिंसात्वम्।। (119)

अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्च्छा ही-हिंसापने को सिद्ध करती है।

परिग्रह बहुत बड़ी हिंसा एवं बहुत बड़ा पाप होने पर भी आज स्वयं को जैन धर्मावलम्बी मानने वाले आनुसांगिक द्रव्यहिंसा को तो बहुत बड़ा पाप मानते हैं परन्तु परिग्रह को हिंसा या पाप नहीं मानते हैं। वे परिग्रह को तो पुण्य मानते हैं, शान, स्वाभिमान की वस्तु मानते हैं, जो अन्याय पूर्ण प्रणाली से यथा-मिलावट, शोषण, ठगबाजी, धोखाधड़ी आदि से भी धन कमाकर धन्नासेठ बन जाते हैं, उसे लोग पुण्यशाली धार्मिक मानते हैं और उसके अनैतिक पूर्ण, अन्यायपूर्ण, अधार्मिक व्यवहार को भी भय के कारण सहन करते है; परन्तु प्रतिवाद नहीं करते, निराकरण नहीं करते हैं। कुछ व्यक्तिदानादि करके अपना नाम कमाने के लिये, अहंकार की पुष्टि के लिए अन्याय से भी धन कमाते हैं और इस अन्याय पूर्ण धन से यद्किंचित् दान देकर स्वयं को धार्मिक एवं दानी मानते हैं। इतना ही नहीं, इस दान के पीछे सेलटेक्स चोरी, इन्कमटेक्स चोरी तथा समाज के ऊपर प्रभाव डालना, अपना वर्चस्व कायम करना आदि कुभावना भी निहित रहती है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि दान देने के लिए भी धन कमाना मानो स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने के बहाने शरीर को मल से लिप्त करना है। यथा--

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति।। (16)
(पृ.18 इष्टोपदेशः)

जो निर्धनी पुरुष, पुण्यप्राप्ति होगी ऐसा विचार कर दान करने के लिए धन कमाता या जोड़ता है, वह स्नान कर लूँगा ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।

जो निर्धनी ऐसा ख्याल करे कि पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्र-दानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये। ऐसा व्यक्तिनौकरी, खेती आदि करके, धन कमाता है तो समझना चाहिए कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्र-दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगे हुए व्यक्तिको भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिए पात्रदानादिक करे तो फिर करे तो फिर किसी को भी धन उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता। जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा भी है।

''शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते, सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः''।।(45)

''सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखों, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि फिर श्रावक को दानादि में भी खर्च नहीं करना चाहिए, यह भाव निकलता? परन्तु रहस्य यह है कि परिग्रह पाप है और परिग्रहधारी हिंसक है। इसलिए समग्रता से सम्पूर्ण परिग्रह त्याग करना चाहिये। यदि सम्पूर्ण त्याग नहीं कर पाता है तो परिग्रह अणुव्रत को धारण करे। इस अणुव्रत में भी जो पाप संचय होता है इसके साथ-साथ अन्य गृहस्थ सम्बंधी पाप को कम करने के लिए निर्लोभता को कम करने के लिए, त्याग को बढ़ाने के लिये न्याय से कमाये धन से यथाशक्तिज्ञान, औषधि आहारादि दान दे। यदि परिग्रह धारी होकर भी दानादि नहीं करता है तो और भी महान् पापी है-लोभी है। दान से हिंसा स्वरूप लोभ को निरसन किया जाता है और जो दान नहीं देता है वह लोभ रूपी हिंसा को

करता है। अमृतचंद्र सूरि ने उपर्युक्त विषय को स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्।। (172)
(पृ.195 पु. सिद्ध)

दान देना अहिंसा हैं, अर्थात् हिंसा को दूर हटाना है। कारण कि दान देने से लोभकषाय का त्याग होता है। बिना लोभकषाय का त्याग किये दान देने के परिणाम ही नहीं होते, इसीलिए दानी के लोभकषाय छूट जाता है। लोभकषाय हिंसा का ही दूसरा नाम है, कारण कि कषायमात्र ही आत्मा के परिणामों की हिंसा करने वाले हैं। इसीलिए लोभकषाय भी आत्मा को मोहित एवं प्रमत्त बनाता है। इसलिए वह भी हिंसास्वरूप है। दान देने से उस लोभकषाय रूप हिंसा का नाश होता है, अतिथि के दान से अहिंसा धर्म की सिद्धि होती है अथवा हिंसा भाव का त्याग होता है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीड्यते।
वितरित यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति।।
(113) पृ. 196

जिनकी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र गुण प्रकट हो रहे हैं जो किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाने का भाव रखते हैं तथा शरीर से भी अच्छी तरह निरीक्षण करने के कारण जो दूसरों को पीड़ा नहीं होने देते। जिस प्रकार भौंरा (भ्रमर) प्रत्येक पुष्प पर बैठता है परन्तु उसे विनष्ट नहीं होने देता, पुष्प को किसी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना ही उसका रसास्वाद लेता है। उसी प्रकार जो भ्रामरी वृत्ति से कभी किसी के यहाँ और कभी किसी के यहाँ आहार लेने जाते हैं किसी एक स्थान में ही मोहित वृत्ति नहीं रखते और न किसी को किसी प्रकार कष्ट ही देते हैं जो सदा गृहवास छोड़कर जंगल में निवास करते हैं ऐसे साधुओं का घर आना बड़े ही पुण्योदय से होता है-सहसा नहीं होता। फिर भी घर आये हुए साधुओं को गृहस्थ दान नहीं देता वह कितना लोभी है यह बात छिपी नहीं रह सकती। अर्थात् जिसके परिणाम घर पधारे हुये रत्नत्रय-धारी परम शांत वृत्ति वाले वीतरागी मुनियों के लिये भी आहारदान करने के नहीं होते हैं वे महान् लोभी है। ऐसा लोभी पुरूष कभी स्वपर कल्याण नहीं कर सकता

किन्तु अपनी आत्मा को ठगता है।

कृतमात्मार्थं मुनये तदाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषाद विमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।। (174)

जो पदार्थ अपने लिये तैयार किया जाय और फिर उसको स्वयं देने के परिणाम हो जायें तो उस समय निश्चय से लोभ मंद हो जाता है। कारण, यदि लोभ की तीव्रता होगी तो देने के परिणाम ही नहीं होंगे। उस समय गृहीता के गुणों में प्रेम भी अवश्य ही हो जाता है, क्योंकि अपना प्रयोजन भूत पदार्थ दूसरों को प्रेम के वश होकर ही दिया जा सकता है अन्यथा नहीं और विषाद भी उस समय नष्ट हो ही जाता है। उस पदार्थ के दान को जो अपने लिये खेद जनक समझेगा वह उसका दान ही क्यों करेगा। इस प्रकार अपने लिये तैयार किये हुए भोजन को जो गृहस्थ भावपूर्वक मुनिमहाराज को देता है उसके उस अरति, विषाद और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाने से उस समय आत्मा के अहिंसामय भाव रहते हैं। इसलिये दान को अहिंसा स्वरूप समझना चाहिए। समन्तभद्र स्वामी ने भी दानादि का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया है।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।। (24)
पृ.सं. 204 र.श्रा

जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से रागद्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह की जल, मलिन रुधिर को धो देता है, नष्ट कर देता है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तः सुन्दरूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।। (25)

तपस्वियों को प्रमाण करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, पड़गाहने से पूजा, प्रभावना, भक्तिअर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप तथा "आप ज्ञान के सागर है" इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।। (26)

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटे से वट का बीज संसारी जीवों को बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फला को फलता (देता) है, उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में **'छाया विभवं'** का समान इस प्रकार होता है **'छाया महात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्यते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं'** छाया का अर्थ माहात्म्य होता है और विभव का अर्थ सम्पत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है उस फल को दान देता है। छाया का अर्थ अनातप-घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ सम्पत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है उस फल को दान देता है। छाया का अर्थ अनातप-घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य-अधिकता लिया जाता है। 'छाया आतप निरोधिनो तस्याविभवः प्राचुर्य यथाभवत्येवं' इस प्रकार क्रिया विशेषण किया जाता है।

आहाररौषधयोरप्युकरणावासयोश्य दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मात्वेन् चतुरस्त्रा।। (27)

भक्तपान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

कुछ लोग उपर्युक्तचार प्रकार के दान नहीं करेगें परन्तु ऐसे काम में धन लगायेंगे जिससे नाम होगा या उस धन से और भी धन का आगमन होगा यथा धर्मशाला आदि बनायेंगे और उसे विवाह, भोज आदि में किराये में देंगे। परन्तु साधु-सन्त के लिए नहीं देंगे। धर्मायतन के नाम पर दुकाने बनायेंगे उससे भाड़ा लेंगे। धर्मशिक्षा के लिए स्कूल संस्था बनायेंगे परन्तु उसके भवन किराये में देंगे अथवा उस संस्था में धर्म की शिक्षा न देकर केवल अर्थोपार्जन की शिक्षा देंगे। जैसे – जैन बोर्डिंग, अनाथाश्रम, महिलाश्रम, त्यागीव्रती आश्रम आदि आदि। कुछ स्थान में भगवान् की मूर्ति के दर्शन, जिनवाणी-शास्त्र के दर्शन के लिए भी शुल्क की व्यवस्था है। साधुओं के केशलोंच, साधुओं के उपकरण दान, आर्यिकाओं

की साड़ी-दान आदि में भी व्यापार का दृष्टिकोण अपनाते हैं। कुछ साधु-आर्यिकादि भी इस कार्य को प्रोत्साहन देते हैं। प्रायः प्रत्येक धार्मिक कार्य बोली रूपी मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है गतिशील होता है और समापन भी होता है। इससे धार्मिक कार्य भी व्यापार की मण्डी बन जाता है। इससे धर्म एकदम गौण हो जाता है और धन एकदम ध्येय बन जाता है। जिस प्रकार बीड़ी आदि के विज्ञापन में बड़े-बड़े मनोहरकारी चित्र-भाषा एवं वाक्यों से बीड़ी का तो प्रचार-प्रसार गुणगान किया जाता है और नीचे बहुत ही छोटे अक्षरों में लिखा जाता है कि 'धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' उसी प्रकार धन एवं धनियों के विज्ञापन आदर-सत्कार, गुणगान एवं महत्त्व के सामने धर्म एवं धर्मात्मा का महत्त्व गौण हो गया है।

इस परिप्रेक्ष में 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' का अर्थ जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और सहभावी अन्य गुणों से रहित हैं वे गुणा हैं के परिवर्तन में द्रव्य (धन) के आश्रय से 'निर्गुणी भी गुणी हो जाता है' अधिक सार्थक हो रहा है। अथवा 'द्रव्य संग्रह' कहने से छहों द्रव्यों को समूह न होकर द्रव्य (धन) का संग्रह ध्वनित हो रहा है। हिंसा को पाप मानने वाले परिग्रह रूपी महापाप को पुण्य मान रहें हैं। इससे जैन, जैनेतर प्रबुद्धवर्ग जैनधर्म के कार्यक्रम में कम भाग लेते हैं और धार्मिक कार्यक्रम को धन के कार्यक्रम प्रभावना को आडम्बर मानकर धर्म से उदासीन हो जाते हैं। इसलिए दान-भाव से, सेवा भाव से खर्च करना चाहिए न कि व्यापार की दृष्टि से।

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।

जिनकी दृष्टि मिथ्यात्व रूप रोग से ग्रसित है उस व्यक्ति को जिनवाणी रूपी मधुर रस नहीं रुचता है। जिस प्रकार पित्त ज्वर से ग्रसित व्यक्तिको मधुर दूध तिक्तअनुभव होता है। वही मिथ्यादृष्टि भगवान् के द्वारा उपदिष्ट उपदेश का श्रद्धान नहीं करता है किन्तु उपदिष्ट व अनुपदिष्ट अवस्तु का श्रद्धान करता है।

अध्याय –4

अनेकान्त एवं स्याद्वाद का बहिष्कार

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।

सकलनयविलसितानां विरोधमंथन नमाम्यनेकान्तम्।।2।।

(पुरुषार्थ सिद्धि उपाय)

जन्मान्ध पुरुषों के हस्ती सम्बन्धी मिथ्याज्ञान का निरसन करने वाला, समस्त नयों से विभूषित एकान्तवादों के विरोधों को मंथन करने वाला अर्थात् दूर करने वाला उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीव भूत (आत्म स्वरूप, बीज स्वरूप) अनेकान्त को मैं अमृतचन्द्र सूरि नमस्कार करता हूँ।

यत्र स्याद्वाद सिद्धान्तो यत्र वीर दिगम्बरः।

तत्र श्री विजियो भाति ध्रुवानन्दो ध्रुवादरः।।

जहाँ पर अनेकान्त स्याद्वाद रूपी उदार, समन्वय, सार्वभौम–सिद्धान्त है तथा जहाँ पर अन्तरंग, बहिरंग ग्रन्थी एवं द्वन्द से रहित सत् दर्शन विद्यापति दिगम्बर सन्त हों, वहाँ पर निश्चय से श्री लक्ष्मी विजय शोभायमान होती है। वहाँ पर ध्रुव शाश्वतिक आनन्द एवं आदर ही आदर प्राप्त होता है।

जेण विणा लोगस्य वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वड़इ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतं वायस्य।। (69)

जिसके बिना लोक का व्यवहार भी सर्वथा नहीं चल सकता है, उस तीन लोक के अद्वितीय गुरु अनेकान्त दर्शन को मेरा नमस्कार है।

श्रीमत्परमगंभीर स्याद्वादामोघलञ्छनम्।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम्।। (3)

जो अनेक अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मियों से भरपूर हैं और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिन्ह है, ऐसे श्री त्रैलोक्यानाथ का शासन, श्री जैन शासन, चिरकाल तक जीवित रहो।

उपर्युक्तकथन से सिद्ध होता है कि अनेकान्त जैन धर्म का प्राण–जीव–बीज–हृदय–चिन्ह–लक्षण है। जैन धर्म की कुछ विशेषताओं में सर्वश्रेष्ठ–

सर्वज्येष्ठ विशेषता अनेकान्त है। अनेकान्त ही वस्तुस्वरूप, भावात्मक अहिंसा, भावात्मक मानसिक उदारता, आध्यात्मिक तथा लौकिक पुरुषार्थ के व्यवहार एवं कथन का मूल आधार है। इसलिए आचार्यों ने अनेकान्त को विश्वगुरु रूप से सम्बोधित करके नमन किया है। जैनाचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि अनेकान्त के बिना जैन धर्म मिथ्या धर्म है एवं अनेकान्त सहित मिथ्या धर्म सच्चा धर्म है अर्थात् अनेकान्त से युक्तएकान्तवाद सम्यक्वाद है और अनेकान्त से रहित सच्चा धर्म मिथ्या धर्म है। इतना ही नहीं जैन धर्म में भी जो निश्चय, व्यवहार आदि कथन है वह भी यदि परस्पर निरपेक्ष होंगे, एक दूसरों को मिथ्या सिद्ध करेंगे, एक दूसरे को काटेंगे तो वे भी मिथ्या हो जायेंगे। यथा

असत्य दृष्टि :-

एए पुणसंगहओ पाड़िक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि।

तम्हा मिच्छादिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया।। (13) (स.सू.)

उत्पाद, स्थिति और व्यय ये तीनों अपृथक् रूप से रहते हैं। एक के बिना दूसरे का सद्भाव नहीं है इसीलिए ये अलग–अलग द्रव्य के लक्षण नहीं कहे गए हैं। दोनों नयों का विषय (सामान्य तथा विशेष) अलग–अलग रूप में द्रव्य (सत्) का लक्षण नहीं बन सकता है। अतएव दोनों नय परस्पर निरपेक्ष अवस्था में मिथ्या रूप (दुर्नय) हैं। परस्पर सामान्य तथा विशेष की सापेक्षता होने पर ही सत् का लक्षण बन सकता है। यदि पर्यायार्थिक नय में अपने विषय का प्रतिपादन कर यह मानने लगे कि उसने पूर्णतः साँच का प्रतिपादन कर दिया है। इसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय भी अपने विषय के प्रतिपादन को पूर्ण तथ्य समझे तो दोनों की स्वतंत्र मान्यता मिथ्यादृष्टि रूप है।

नयों की यथार्थता-

ण य तइयो अत्थि णयो ण य सम्मत्तं ण तेसु पड़िपुण्णं।

जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंतो।। (14)

यदि सामान्य विशेष से युक्तद्रव्य को युगपत् ग्रहण करने वाला कोई नय होता, तो तीसरा नय मान लिया जाता, परन्तु ऐसा कोई तीसरा नय नहीं

है। मूल में दो ही नय हैं। इन दोनों से काम चल जाता हैं। अपने-अपने विषय को पूर्ण रूप से कहने पर भी ये तब तक एकान्त रहते हैं, जब तक परस्पर सापेक्ष रूप से अपने विषय का कथन नहीं करते। सापेक्ष कथन होने पर इनमें अनेकान्त होता है और ये यथार्थ कहे जाते हैं इस प्रकार ये दोनों नय यथार्थ हैं।

अलग-अलग नय दुर्नय-

जह ए ए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे।
होदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावड़ा ते वि।। (15) स.शू.

जिस तरह ये दोनों नय परस्पर एक दूसरे के विषय को तिरस्कृत कर अपने अपने विषय के कथन करने में एकान्त होने से मिथ्या कहे जाते हैं, उसी प्रकार दूसरे सभी नय अलग अलग रहने पर मिथ्या नय माने जाते हैं। किन्तु संग्रहादि नय मूल नयों के विषय का ही सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रतिपादन करने में सापेक्ष होकर संलग्न रहते हैं। कथन का भाव यही है कि इस प्रकार मूल दो नयों के अतिरिक्त कोई तीसरा नय नहीं है। इनमें से कोई भी नय यदि निरपेक्ष रूप से कथन करता है, तो मिथ्या नय या दुर्नय है।

निरपेक्ष और सापेक्ष नयों की स्थिति-

मिथ्या समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तनास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।। (108)

जहाँ अनेकान्त के प्रतिपक्षी द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तों का समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तु तत्व है वह भी मिथ्या ठहरता है क्योंकि मिथ्याओं का समूह मिथ्या ही होता है। इस पर ग्रन्थकार महोदय कहते हैं कि यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ कोई भी वस्तु मिथ्या एकान्त के रूप में नहीं है। जब वस्तु का एक धर्म दूसरे धर्म की अपेक्षा नहीं रखता-उसका तिरस्कार कर देते हैं-सो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है-उसका तिरस्कार नहीं करता तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तव में वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है, तब उसे

और तदात्मक वस्तु को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। आधुनिक महावैज्ञानिक सापेक्ष सिद्धान्त के प्रणेता आईन्सटीन ने भी अनेकान्त को अनेकांतमय एवं सम्यक् एकांत एवं मिथ्या एकान्त भी स्वीकार किया है।

A certain type of superior person is found of asserting that, 'everything is relatives.' This is of course, nonsense because if evertything is relative, there would be nothing for it to be relative to.

(THE ABC OF RELATIVITY - By Bertrand Russel)

यह भावात्मक अनेकान्त ही प्रेम, मैत्री, करुणा, माध्यस्थ, उदारतारूप में व्यवहार में प्रगट होता है। इस उदारता के कारण विरोधी व्यक्तियों से भी घृणा, द्वेष, प्रतिशोध की भावना प्रज्ज्वलित नहीं होती है। परन्तु समता की मन्दाकिनी उत्प्लावित होती है। अनेकान्त से सरावोर वाला व्यक्ति भगवान् से प्रार्थना करता है कि-

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं। क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।।
माध्यस्थभावं विपरीतवृतौ। सदा ममात्मा विदधातु देव।। (1)
(भावना द्वात्रिंशतिका)

हे भगवान्! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणीजनों में प्रमोद भाव रहे, दुःखीजनों के लिए करूणा भाव रहे, दुर्जनों के प्रति मेरा माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहे।

अतएव स्वयमेव सिद्ध हुआ कि अनेकान्त ही वस्तु स्वरूप है, अहिंसा का मूल मंत्र है। स्वपर, इहलोक, परलोक कल्याण का प्रशस्त राजमार्ग है। धर्म का प्राण स्वरूप है, समन्वय का एक मात्र अचूक-अमोघ उपाय है। समस्त संकुचित विचारधारा, मतान्ध, धर्मान्ध, वाद-विवाद, कुतर्क, अतर्क, को निर्मूलन करने वाला अनेकान्त दर्शन है। इस अनेकान्त दर्शनरूपी अमृतपान से यह अनंत दुःख सन्तप्त जीव समस्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं जन्म-जरा मरण रूपी रोग से पूर्णतः निवृत्त होकर शाश्वतिक अतीन्द्रिय अनंत सुखामृत-रस-स्वादन रूप आत्यन्तिक स्वास्थ्य स्वरूप परिनिर्वाण रूप अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए प्रत्येक आत्म-

कल्याण इच्छुक, मुमुक्षु, सत्यग्राही, साम्यवादी जीवों का एकमेव अद्वितीय शरण, तीन लोक का एकैक गुरु अनेकान्त दर्शन ही है। अनेकान्त दर्शन को कोई सिद्धान्तः माने या न माने परन्तु व्यवहारिक जीवन में प्रत्येक जीव अनेकान्त का अवलम्बन लेकर ही जीवन-यापन, आचार-विचार, भाव-विनिमय कथोपकथन करते हैं। पहले जैनधर्म को छोड़कर अन्य कोई दर्शन में अनेकान्त का स्पष्टतः सैद्धान्तिक विधिवत् वर्णन नहीं पाया जाता था। अनेक इतर दार्शनिक लोग अनेकान्त दर्शन को बिना समझे अनेकान्त दर्शन की हँसी उड़ाते थे, परन्तु महामेधावी महान् चिन्तक, वैज्ञानिकाचार्य धर्म-दर्शन-विज्ञान के समन्वयकारी महामनीषी आइंस्टीन के जगत् प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सापेक्ष सिद्धान्त के बाद अनेकान्त दर्शन को बुद्धिजीवी, साम्यवादी प्राच्य, पाश्चात्य के अनेक विद्वान् आत्म गौरव पूर्वक स्वीकार करने लगे हैं। ठीक ही है-''सत्यमेव जयते नानृतम्'' सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। लोकोक्ति है ''भगवान् के राज्य में देर है, अन्धेर नहीं।'' इसीलिए वैज्ञानिक तर्कपूर्ण साम्यवादी युग में अनेकान्त की जय-पताका प्राच्य पाश्चात्य जगत् में सतत फहर रही है। यह अनेकान्त दर्शन को मानने वालों के लिए अत्यन्त आत्मगौरव एवं स्वाभिमान का विषय है।

उपरोक्तकारणों से अनेकान्तियों को आत्मगौरव तो होता है, परन्तु कुछ रूढ़ीवादी, मिथ्याग्राही, एकान्त पक्षधर धर्म के नाम पर अहं भाव एवं संकुचित एकान्त मत को प्रचार-प्रसार करने वाले आज अनेकान्त के नाम पर, अध्यात्म के नाम पर अनेकान्त की बलि दे रहे हैं। जो अनेकान्त सम्पूर्ण वाद-विवाद, मिथ्या अभिप्राय का विध्वंश करने वाला था आज उसी अनेकान्त को लेकर वाद-विवाद चल रहा है। पहले दीपक के नीचे अंधकार रहता था किन्तु अभी दीपक के ऊपर अंधकार है। जैसे बल्ब में (अनेकान्त-दर्शन पृ. 20-21)

अभी जैनी लोग अनेकान्त को भूलकर पूजा, पाठ, पंथ, निश्चयनय-व्यवहानय (अनेकान्त) शास्त्र, पुण्य-पाप, जाति, गुरु, आचार्य, मंदिर, मूर्ति, तीर्थक्षेत्र, पंचकल्याणक, धन, संस्था, समिति, संगठन को लेकर परस्पर को नीचा दिखा रहे हैं, घृणा कर रहे हैं, लड़ रहे हैं, धर्म को कलंकित कर रहे रहे हैं।

अध्याय -5

नवीन जैन धर्मावलम्बी नहीं बनना

जैन धर्म वस्तुतः जीवधर्म, जैनधर्म, विश्वधर्म, वस्तुस्वरूप धर्म है। जो धारण करने योग्य है, जो उत्तम सुख में जीवों को धारण करावे उसे धर्म कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान अर्थात् सच्चे धर्म में विश्वास करने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी, नारकी, देव से लेकर अरिहन्त, सिद्ध भगवान् तक सब जैनी ही है। तीर्थंकरों की गन्धकुटी की 12 सभा में रहने वाले असंख्यात देव, मनुष्य, शेर, गाय, भैंस, सर्प, नेवला, आदि सब जैनी ही है। जैनधर्म के 24 तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, कामदेव आदि सब क्षत्रिय वंश के थे। जम्बुकुमार, सुदर्शन आदि वैश्य थे। गौतम गणधर आदि ब्राह्मण वंश के थे। यमपाल, चाण्डाल आदि शूद्र थे। महावीर भगवान् के जीव ने पहले सिंह अवस्था में दो चारण ऋद्धिधारी मुनि से जैनधर्म स्वीकार करके उसका पालन किया था। राजगृही नगर में एक मेढ़क भगवान् महावीर के दर्शन के लिए मुख में कमल दल लेकर जा रहा था।

शुरु से ही अनादिकाल से कोई भी जैनी नहीं होता है। जितने अभी तक अनन्त तीर्थंकर हो गये, हो रहे हैं और होगें वे भी पहले अजैनी-मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। कालादिलब्धि को प्राप्त कर के भावविशुद्धि के बल पर जैनी-सम्यग्दृष्टि बनते हैं। गौतम गणधरादि भी मिथ्यादृष्टि थे परन्तु भगवान् महावीर के कारण जैनी बने और मुनि बन कर गणधर बने और उसी ही भव में अरिहन्त एवं सिद्ध बने। श्रेणिक भी अजैनी थे। वे जैनधर्म के कट्टर विरोधी थे। जैन साधु यशोधर के ऊपर उपसर्ग किया। उनके तथा रानी चेलना के कारण जैनी बने। प्रसिद्ध है कि - लोहाचार्य ने अनेक अजैनी क्षत्रिय अग्रवालों को जैनी बनाया था। अभी भी लाखों अग्रवाल जैनधर्म का पालन कर रहे हैं। जिनसेन आचार्य ने अनेक-3 लाख खण्डेला निवासी अजैन क्षत्रियों को जैनी-श्रावक-सरावगी बनाया था। अभी भी लाखों प्रसिद्ध जैन खण्डेलवाल-सरावगी जैन धर्म का पालन कर रहे हैं। यदि हमारे पूर्वाचार्य इन्हें जैनी नहीं बनाते तो क्या अभी वे लाखों की संख्या में जैन धर्मावलम्बी पाये जाते? अभी हूमड़ जैन समाज का सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1) के आधार पर हूमड़ के बारे में कुछ

प्रकाश नीचे उद्धृत कर रहा हूँ।

हूमड़ कैसे बने?

एक समय ऐसा भी था कि खेड़ब्रह्मा में जैनधर्म को मानने वाले क्षत्रियों की भी बड़ी बस्ती थी। ये हूमड़ कैसे बने उनका एक रसप्रद उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ आपके समक्ष :-

विक्रम की प्रथम शताब्दि के अंत तक एवं द्वितीय शताब्दि के प्रारम्भ में मौजूद थे एक महाराज जिनका नाम था रायचंद। उस वक्तमौजूद थे। एक दिगम्बर जैन तत्वज्ञ नाम था आपका हूम्माचार्य। बड़ा प्रभाव था आपका। आपके प्रति उन क्षत्रियों की बड़ी आस्था थी एवं भक्ति थी। आपने खेड़ब्रह्मा ग्रामस्थ 18,000 क्षत्रियों के संगठन को सम्बोधित किया 'हूमड़' नाम से। वीर संवत् 550 में अर्हद्बली में शिष्य माघनंदी ने नंदी संघ की स्थापना की। हूम्माचार्य भी नंदीसंघ के थे और परिभ्रमण करते हुये वे रायदेश पहुँचे थे और वहाँ से ससंघ पहुँचे खेड़ब्रह्मा। उस समय के अन्तर्गत उपरोक्त घटना घटी :-

निम्नलिखित पंक्तियों से उपरोक्त घटना को बल मिलता है-

विक्रम 101 माघ सुदी पंचमी गुरुवार

पूजा प्रतिष्ठा दानविध वर्ती जय-जयकार।

वस्तुतः गुजरात-गुर्जर देश का पूर्व नाम था लाट (लाड़)। इसमें रहने वाले क्षत्रिय लाट-लाड क्षत्रिय के नाम से पहचाने जाते थे। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विषम परिस्थितियों के कारण कई क्षत्रिय लाड वैश्य बने। उन्होंने लक्ष्य बनाया व्यापार रोजगार का -

हूमड़ शब्द की व्युत्पत्ति :-

(1) लाड़ क्षत्रिय आयुध धारी थे।

होम द्वारा आयुध त्याग के महत्व को चिरस्थायी रखने की दृष्टि से होम+आयुध = होमायुध के नये नाम से क्षत्रिय पहचाने जाने लगे।

कालान्तर में होमायुध शब्द से हूमड़ अंतिम शब्द आया और वह अधिक प्रचलित हो गया। देखिए :-

होमयुद्ध, होवायुढ़, होवाउड्ड, होवाड्ढ, हूँबड़, हूमड़ ये लाट-लाड़ जैनधर्म के अनुयायी थे।

(2) हूमड़ शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में दूसरी मान्यता इस प्रकार है:-

तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि है बिहार प्रांत। उसमें एक नगर था सूह्मा। उसमें रहते थे दिगम्बर साधु। विहार करते-करते ये साधु पहुँचे गुजरात में बात है खेड़ब्रह्मा-ब्रह्मपुर की।

उसमें रहते थे लाड़वणिक (लाड़ वैश्य) उन्होंने जैन धर्म अंगीकार किया। उन साधुओं का उपदेश सुनकर ये भी हूमड़ कहलाये।

अजैनी को जैनी बनाने की विधि-

आदि पुराण, सागार धर्मामृत आदि प्राचीन जैन ग्रन्थों में जैनतरों को किस प्रकार नवीन जैनी बनाना चाहिए उसका सविस्तार वर्णन नीचे उद्घृत कर रहा हूँ।

अथ प्रकृतमुपसंहरन् सर्वकालिक-सम्यक्त्व शुद्धिपूर्वकमद्यादिविरतिकृतां कृतोपनीतानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां जिनधर्मश्रुत्यधिकारितामाविष्कर्तुमाह।

अब प्रकृत अष्टमूलगुणों की चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार सार्वकालिक सम्यकत्व की शुद्धिपूर्वक आठ मूलगुणों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को, जिनका उपनयन संस्कार हो गया है, जिनधर्म के सुनने का अधिकारी बतलाते हैं:-

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापा निशुद्ध धीः।

जिनधर्मश्रुतेयोग्यः स्यात् कृतोपनयो द्विजः।। (19)

इस प्रकार जीवन पर्यन्त के लिए अनन्त संसार के कारण महापाप को जन्म देने वाले मद्य आदि जो पहले विस्तार से कहे गये हैं उनको छोड़कर सम्यक्त्व से विशुद्ध बुद्धिवाला द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपनयन संस्कार हो जाने पर वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म को अथवा उपासकाध्ययन आदि शास्त्र को सुनने का अधिकारी होता है।

अथ सहजामाहार्या चालोकिकीं गुणासम्पदमुद्धहतो भव्यान् यथासम्भव-मवगमयन्नाह-

आगे जैनकुल में जन्म लेकर जन्म से अष्ट मूलगुणों का पालने करने वाले और दीक्षा के योग्य मिथ्यादृष्टि कुल में जन्म लेकर अवतार आदि क्रियाओं के द्वारा अपने को पवित्र करने वाले भव्यों के महात्म्य का वर्णन करते हैं।

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणै
र्येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामर्गेसराः केऽपि ते।
येऽभ्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुर्णे–
विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान्।। (20)

पूर्वजन्म में सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये धर्म के अभ्यास के महात्म्य से जो जैन कुल में उत्पन्न होकर अपने को बिना प्रयत्न के प्राप्त हुए सम्यक्त्व आदि गुणों से लोगों के चित में चमत्कार करते हैं वे पुण्यशालियों के मुखिया बहुत थोड़े हैं। जो मिथ्यात्व सहचारी पुण्य कर्म के उदय से विद्या और शिल्प से आजीविका न करने वाले, अतएव दीक्षा के योग्य मिथ्यादृष्टि कुल में भी जन्म लेकर अपने को सम्यकत्व आदि गुणों से पवित्र करते हैं वे भी उन जैनकुल में जन्म लेने वालों का ही अनुसरण करते हैं अर्थात् उन्हीं के समान होते हैं। अथ द्विजातिषु कुलक्रमायातमिथ्याधर्मपरिहारेण विधिवज्जिनोक्त – मार्गमाश्रित्य स्वाध्यायध्यानबलादशुभकर्माणि निघ्ननन्तं भव्यमभिष्टौति

अब जो ब्राह्मण–क्षत्रिय या वैश्य कुल परम्परा से आये मिथ्या धर्म को छोड़कर और विधिपूर्वक जैनमार्ग को स्वीकार करके स्वाध्याय और ध्यान के बल से अशुभ कर्मों का घात करते हैं उन भव्य जीवों का अभिनन्दन करते हैं–

तत्वार्थ प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तुदुर्दैवतः।
आङ्ग पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः
पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहम्यंहसी।। (21)

धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्य के उपदेश से जीवादिक तत्वार्थ का निश्चय करके अष्ट मूलगुण आदि एकदेश व्रत को स्वीकार करे तथा

देशव्रत की दीक्षा लेने से पहले गुरुमुख से पंच नमस्कार नामक महामन्त्र को ग्रहण करे, अब तक जिन मिथ्यादेवों को मानता था उनका त्याग कर दे, तथा ग्यारह अंग और चौदह पूर्व सम्बन्धी उद्धार ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद अन्य मतों के शास्त्रों को पढ़ें तथा प्रतिमास दो अष्टमी और दो चतुर्दशी की रात्रि में रात्रि प्रतिमा योग का अभ्यास करता हुआ वह पुण्यशाली व्यक्ति द्रव्य–पाप और भाव–पाप को नष्ट करता है।

विशेषार्थः– अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढ़चर्या और उपयोगिता में आठ क्रियायें जैन धर्म में दीक्षित होने वाले अजैन के लिए हैं। इनकी गणना दीक्षान्वय क्रियाओं में की जाती है। व्रतों का धारण करना दीक्षा है। उन व्रतों को ग्रहण करने के सम्मुख पुरुष की जो प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली जो क्रियाएँ हैं वे दीक्षान्वय क्रिया कहलाती हैं। उनमें दीक्षा अवतार क्रिया है। जब मिथ्यात्व से दूषित कोई पुरुष समीचीन मार्ग को ग्रहण करना चाहता है तब यह क्रिया की जाती है। प्रथम ही वह किन्हीं मुनिराज या गृहस्थाचार्य के पास जाकर धर्म की जिज्ञासा करता है और उपदेश सुनकर मिथ्या मार्ग से प्रेम छोड़कर समीचीन मार्ग में बुद्धि लगाता है। उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्म के द्वारा तत्वज्ञानरूपी गर्भ में अवतीर्ण होता है। इसलिए इस क्रिया को **पहली अवतार क्रिया कहते हैं।** उसी समय गुरु के चरणकमलों को नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतों को धारण करते हुए उस पुरुष के **वृत्तलाभ नाम की दूसरी क्रिया** होती हैं। उसके बाद उपवास और पूजापूर्वक **स्थान लाभ नाम की तीसरी क्रिया** होती है। इसकी विधि इस प्रकार है–जिनालय में किसी पवित्र स्थान का आठ पांखुरी का कमल बनावे अथवा गोलाकार समवशरण मण्डल की रचना करे। जब उसकी पूजा सम्पूर्ण हो चुके तब आचार्य उस पुरुष को जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के सम्मुख बैठे और बार–बार उसके मस्तक का स्पर्श करते हुए कहे–'यह तेरी श्रावक की दीक्षा है।' पंचमुष्ठि की रीति से उसके मस्तक का स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षा से पवित्र हुआ।' इस प्रकार कहकर पूजा के बचे हुए शेषाक्षत उससे ग्रहण कराये। पश्चात् 'यह मंत्र तुझे समस्त पापों

से पवित्र करे' इस प्रकार कहते हुए उसे पंच नमस्कार मंत्र का उपदेश करे। यह तीसरी क्रिया है। उसके बाद वह पुरुष अपने घर से मिथ्या देवताओं को निकालता है तथा **चौथी गणग्रह क्रिया है।** फिर पूजा और उपवासपूर्वक द्वादशांग श्रुत को सुनना **पाँचवी पूजाराध्य क्रिया है।** फिर साधर्मी पुरुषों के साथ चौदह पूर्वों के अर्थ को सुनने वाले उस भव्य के पुण्य को बढ़ाने वाली **पुण्ययज्ञा नामक छठी क्रिया होती है।** इस प्रकार अपने मत के शास्त्रों को पूर्ण पढ़ लेने के बाद अन्य मत के शास्त्रों को अथवा किसी अन्य विषय को पढ़ने या सुनने वाले उस भव्य के **दृढ़चर्या नाम की सातवीं क्रिया होती है। इसके बाद उपयोगिता नाम की आठवीं क्रिया होती है।** इसमें पर्व के दिन रात्रि के समय में प्रतिमा योग धारण किया जाता है।

अथ शूद्रस्याप्याचारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्म्याक्रियाकारित्वं यथोचितं समनुमन्यमानः प्राह–

आगे कहते हैं कि आचार आदि की शुद्धि पालने वाला शूद्र भी ब्राह्मण आदि की तरह यथायोग्य धर्म–कर्म कर सकता है–

शुद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्धयाऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक्।। (22)

आसन आदि उपकरण, मद्य आदि की विरतिरूप आचार और शरीर की शुद्धि से विशिष्ट शुद्र भी जिनधर्म के सुनने के योग्य होता है। क्योंकि वर्ण से हीन भी आत्मा योग्य काल देश आदि की प्राप्ति होने पर श्रावक धर्म का आराधक होता है। (धर्मामृत पृ. 63–70)

संस्कार जन्म सिद्ध सज्जाति–अजैनी की जैन धर्म–स्वीकार विधि–

संस्कार जन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते।
यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते।। (89)

संस्कार रूप जन्म, से जो सज्जाति का वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपने को प्राप्त होता है।

विशुद्धकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः।
यातूत्कर्ष यथाऽऽत्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः।। (90)

जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

सुवर्णधातुरथवा शुद्धयेदासाद्य संक्रियाम्।
यथा तथैव भव्यात्मा शुद्धयत्यासादित क्रियः।। (91)

जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कार को पाकर शुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार जीव उत्तम क्रियाओं को पाकर शुद्ध हो जाता है।

ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम्।
यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृति।। (92)

वह संस्कार ज्ञान से उत्पन्न होता है, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिस समय वह पुण्यवान भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देव के मुख से उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है।

तदैव परम् ज्ञान गर्भात् संस्कारजन्मना।
जातो भवेद् द्विजन्मेति वृतैः शीलैश्च भूषितः।। (93)

उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञान रूपी गर्भ से संस्कार रूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शील से विभूषित होकर द्विज कहलाता है।

व्रतों के चिन्ह (यज्ञोपवीत)

व्रत चिन्ह भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुरःसरग्।
सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभाव विकल्पितम्।। (94)

सर्वज्ञ देव की आज्ञा को प्रधान मानने वाला वह द्विज भी मंत्र पूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतों का चिन्ह है, वह सूत्र द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं।

यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यस्त्रिगुणात्मकम्।
सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारुढेस्त्रिभिर्गुणैः।। (95)

तीन लर का जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदय में

उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी गुणों से बना हुआ जो श्रावक का सूत्र है वह उसका भाव सूत्र है।

शेषाक्षत धारण -

यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति।
तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः।। (96)

जिस समय वह भव्य जीव संस्कारों को पाकर परम ब्रह्म को प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वाद रूप वचनों से उसकी प्रशंसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतों से जिनेन्द्र भगवान् की आशिषि का ग्रहण कराते हैं अर्थात् जिनेन्द्र देव की पूजा से बचे हुये पुष्प अथवा अक्षत उसके सिर आदि अंगों पर रखवाते है क्योंकि यह एक प्रकार का स्थिरीकरण है और धर्म में अत्यन्त उत्साह बढ़ाने वाला है।

अयोनिसंभवं दिव्यज्ञानगर्भ समुद्भवम्।
सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत्।। (97)

इस प्रकार जब वह भव्य जीव बिना योनि के प्राप्त हुये दिव्यज्ञान रूपी गर्भ से उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट जन्म को प्राप्त होता है तब वह सज्जाति को धारण करने वाला समझा जाता है।

सद्गृहित्व -

ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत्।
गृहमेधी भवन्नार्य षट् कर्माण्यनुपालयन्।। (98)
यदुक्तंगृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत्।
तदाम्नविहितं कृत्स्नमतन्द्रालुः समाचरेत्।। (99)
जिनेन्द्राल्लब्ध सज्जन्मा गणैन्द्रैरनुशिक्षितः।
सधत्तेपरमंब्रह्मवर्चसंद्विजसत्तमः।। (100)

जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुयी है ऐसा वह भव्य सद्गृहीत्व क्रिया को प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सद्गृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषों के करने योग्य छह कर्मों का पालन करता है, गृहस्थ अवस्था में करने योग्य जो- जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं, अरहन्त भगवान् के द्वारा कहे हुये उन उन

समस्त आचरणों का जो आलस्य रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्र देव से उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधर देव ने उसे शिक्षा दी है वह उत्तमद्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज आत्मतेज को धारण करता है।

नवीन जैनी की अन्य जैनिओं के द्वारा प्रशंसा-

तमेनं धर्मसाभ्दूतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः।
परं तेज इव ब्रह्मभवतीर्ण महीतलम्।। (101)

उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्य की अन्य धर्मात्मा लोग यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं - तू पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेज के समान है।

स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः।
अध्यापयन्नधीनो वेदवेदाङ्गविस्तरम्।। (102)
स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीमतैः।
देवत्वमात्मसात्कुर्यादि हैवाभ्यर्चितैर्गुणैः।। (103)
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम्।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः।। (104)
गुणैरेभिरूपारुढ़महिमा देवसाभ्दवम्।
विभ्रल्लोकातिग धाम मह्यामेप महीयते।। (105)

पूजा करने वाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है और दूसरों से भी कराता है, जो वेद और वेदांग के विस्तार को स्वयं पढ़ता है तथा दूसरों को भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथ्वी का स्पर्श करता है तथापि पृथ्वी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणों से इसी पर्याय में देवपर्याय को प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नहीं किन्तु महिमा अर्थात् बड़प्पन है, जिसके गरिमा ऋद्धि है परन्तु लघिमा नहीं है जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओं के गुण विद्यमान हैं, उपर्युक्त गुणों से जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देव रूप हो रहा है और लोक का उल्लंघन करने वाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथ्वी पर पूजित होता है।

धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्ति दमादिभिः।

देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वास्मिन् संभावयात्यसौ।। (106)

सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्म सम्बन्धी आचरणों से वह अपने में प्रशंसनीय देवब्राह्मणपने की सम्भावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणों से अपने आपको देव ब्राह्मण के समान उत्तम बना देता है।

नवीन जैनी को अहंकारी नामधारी जैन द्वारा उलाहना-

अथ जातिमदावेशात् किश्चिदेनं द्विजब्रुवः।

ब्रूयादेवं किमधैव देवभूयं गतो भवान्।। (107)

यदि आपको झूठ मूठ ही द्विज मानने वाला कोई पुरुष अपनी जाति के अहंकार के आवेश से देव ब्राह्मण से कहे कि आप क्या आज ही देवपने को प्राप्त हो गये हैं।

त्वमामुष्यायाणः किन्न किन्तेऽक्वाऽमुष्य पुत्रिका।

यनैवमुन्नसो भूत्वा यास्यसस्कृत्यमद्विधान्।। (108)

क्या तू अमुक पुरुष का पुत्र नहीं है? और क्या तेरी माता अमुक पुरुष की पुत्री नहीं है? जिससे तू इस तरह नाक ऊँची कर मेरे ऐसे पुरुषों का सत्कार किये बिना हो जाता है।

जातिः सैव कुलं तच्च सोऽपि योऽसि प्रमेतनः।

तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान्।। (109)

यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सबेरे के समय था तथापि तू अपने आपको देवता रूप मानता है।

देवतातिथिपित्राग्निकार्येष्वप्रयतो भवान्।

गुरु द्विजाति देवान् प्रणामावच्च पराङ्गमुख।। (110)

यद्यपि तू देवता, अतिथि पितृगण और अग्नि के कार्यों में निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवों को प्रमाण करने से विमुख है।

दीक्षां जैनी प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव।

यतोऽद्योपि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन्।। (111)

जैनी दीक्षा धारण करने से तुझे कौन सा अतिशय प्राप्त हो गया है? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है और पृथ्वी को स्पर्श करता हुआ पैरों से ही चलता है।

इत्युपाढ़संरम्भमुपालब्धः स केनचित्।

ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोर्भियुक्तिपेशलैः।। (112)

इस प्रकार क्रोध धारण कर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिये युक्ति से भरे हुये वचनों से इस प्रकार उत्तर दे।

देव ब्राह्मण-नवीन जैनी द्वारा उलाहना का निराकरण-

श्रूयतां भो द्विजंमन्य त्वयाऽस्माद्दिव्य संभवः।

जिनो जनायिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः।। (113)

हे अपने आपको द्विज (जैनी) मानने वाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्र देव मेरे पिता है और ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है।

तत्राहर्ती त्रिधा भिन्नां शक्ति, त्रैगुण्यसंश्रिताम्।

स्वसात्कृत्य समुभ्दूता वयं संस्कारजन्मना।। (114)

उस गर्भ में उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणों के आश्रित रहने वाली जो अरहन्त देव सम्बन्धी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न शक्तियाँ हैं उन्हें अपने अधीन कर हम संस्कार रूपी जन्म से उत्पन्न हुए हैं।

नवीन जैनी की श्रेष्ठता -

अयोनिसंभवास्तेन देवा एव न मानुषाः।

वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति वेद ब्रुहि तद्विधान्।। (115)

हम लोग बिना योनि से उत्पन्न हुये हैं इसीलिए देव ही हैं, मनुष्य नहीं हैं। हमारे समान जो और भी हैं उन्हें भी तू देव ब्राह्मण कह।

स्वायम्भुवान्मुखाज्जतास्ततो देवद्विजा वयम्।

व्रतचिन्ह च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्।। (116)

हम लोग स्वयंभू के मुख से उत्पन्न हुये हैं इसीलिये देव ब्राह्मण हैं और हमारे व्रतों का चिन्ह शास्त्रों में कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है।

पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठका:।

सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णा: केवलं मलदूषिता:।। (117)

आप लोग तो गले में सूत्र धारण कर समीचीन मार्ग में तीक्ष्ण कण्टक बनते हुए पाप रूप सूत्र के अनुसार चलने वाले है; केवल मल से दूषित हैं, द्विज नहीं है।

शरीर जन्म संस्कार जन्म चेति द्विधा मतम्।

जन्माङ्गिनां मृति श्चैवं द्विधाम्ना जिनागमे।। (118)

जीवों का जन्म दो प्रकार है। एक तो शरीर जन्म और संस्कार जन्म। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में जीवों का भी दो प्रकार का माना गया है।

देहान्तर परिप्राप्ति: पूर्वदेहपरिक्षयात्।

शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाषां भवान्तरे।। (119)

पहले शरीर का क्षय हो जाने से दूसरी पर्याय में जो दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है उसे जीवों का शरीर जन्म जानना चाहिए।

तथालब्धात्मलाभस्य पुन: संस्कारयोगत:।

द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम्।। (120)

इसी प्रकार संस्कार योग से जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष को जो द्विजपने की प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कार से उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है।

शरीर मरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम्।

संस्कारमरणं प्राप्तव्रत त्याग: समुज्झनम्।। (121)

अपनी आयु के अन्त में शरीर का परित्याग करना शरीर मरण है तथा व्रती पुरुष का पापों का परित्याग करना संस्कार मरण है।

यतोज्य लब्ध संस्कारों विजहाति प्रगेतनम्।

मिथ्यादर्शन पर्यायं ततस्तेन मृतो भवेत्।। (122)

इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुये हैं ऐसा जीव मिथ्यादर्शन रूप पहले की पर्याय को छोड़ देता है इसलिए वह एक तरह से मरा हुआ ही कहलाता है।

तत्र संस्कार जन्मेदमपापोहतं परम्।

जातं नो गुर्वनुज्ञानादतो देवद्विजा वयम्।। (123)

उन दोनों जन्मों में से जो पाप से दूषित नहीं है ऐसा संस्कार से उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरु की आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिए मैं देव द्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूँ।

इस प्रकार न्याय मार्ग से अपने आत्मा गुणों का उत्कृष्ट प्रकट हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्था को पाकर सद्गृहस्थ होता है।

उत्तम क्रियाओं के कारण योग्य ब्राह्मणों से उनके जातिवाद का अहंकार दूर करने के लिए इसके आगे फिर भी कुछ कहता हूँ।

ब्रह्मा की संतान ब्राह्मण-उपदेश से नवीन जैनी

ब्रह्मणोऽपर्स्यामित्येवं ब्राह्मणा: समुदाहृता:।

ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान परमेष्ठी जिनोत्तम:।। (127)

जो ब्रह्मा की संतान हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयंभू, भगवान्, परमेष्ठी तथा जिनेन्द्र देव ब्रह्मा कहलाते हैं।

जो जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य परम्परा में प्रविष्ट हुये है वे ब्राह्मण कहलाते हैं।

सह्यादिपरम ब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणवृंहणात्।

परं ब्रह्म यदायत्तमामनन्ति मुनीश्वरा:।। (128)

श्री जिनेन्द्र देव ही आदि परम ब्रह्मा हैं क्योंकि वे ही गुणों को बढ़ाने वाले हैं और आकृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हीं के अधीन है ऐसा मुनियों के ईश्वर मानते हैं।

इसलिये जिन्होंने दिव्य मूर्ति के धारक श्री जिनेन्द्र देव के निर्मल ज्ञान रूपी गर्भ से जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते हैं।

वर्णोत्तमः (उत्तम वर्ण)-

वर्णान्त: पातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमा:।

व्रतमंत्रादि संस्कार समरोपितगौरवा:।। (131)

व्रत, मंत्र तथा संस्कारों से जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे उन उत्तम

द्विजों को वर्णों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। अर्थात् ये वर्णोत्तम है।

वर्णोत्तमानिमान् विद्यः क्षान्तिशौचपरायणान्।

संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानल्किष्टचार भूषणान्।। (132)

जो क्षमा और शौच गुण के धारण करने में सदा तत्पर हैं, संतुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजों को सब वर्णों में उत्तम मानते हैं।

शुक्लवर्ग एवं कृष्ण वर्गः हे द्विज! लोग मलिन आचार का पालन करते हैं और झूठमूठ ही अपने को द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें कृष्णवर्ग अर्थात् पापियों के समूह में गर्भित करते हैं और जैन लोग निर्मल, आचार का पालन करते हैं इसलिये इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानों के समूह में शामिल करते हैं।

श्रुतिस्मृति पुरावृत्त वृत्तमन्त्र क्रियाश्रितां।

देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिद्विजन्मनामम्।। (139)

द्विज लोगों की शुद्धि, श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मंत्र और क्रियाओं के आश्रित है तथा देवताओं के चिह्न धारण करने और काम का नाश करने से भी होती है।

ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृता समुपाश्रिताः।

ते शुक्लवर्गे बोधव्याः शेषाः शुद्धेः बहिः कृता।। (140)

जो श्रुति, स्मृति आदि के द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्ति को धारण करते हैं उन्हें शुक्ल वर्ग अर्थात् पुण्यवानों के समूह में समझना चाहिये और जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धि से बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध है।

न्याय एवं अन्याय-

तच्छुद्ध्यशुद्धि बोधव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः।

न्यायो दयार्द्र वृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारणम्।। (141)

उनकी शुद्धि और अशुद्धि न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्ति से जाननी चाहिये। दया से कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियों को मारना अन्याय है।

इससे यह बात निश्चित हो चुकी हैं कि विशुद्धि वृत्ति को धारण करने वाले जैन लोग ही सब वर्गों में उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्गों के अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम और जगत्पूज्य हैं। (संस्कार-(बृहत) पृ.64-72)

जैन साधु-साध्वी बनाने की विधि-

यहाँ तक सामान्य जैन धर्मावलम्बी बनाने की विधि का वर्णन किया गया। यहाँ से जैन साधु बनाने की विधि का वर्णन कर रहे हैं। धर्म को प्रभावशाली बनाने में गृहस्थाश्रमिओं का जितना योगदान है उससे भी अधिक योगदान साधु-साध्वियों का होता है क्योंकि उनमें धर्म की गुणवत्ता, प्रखरता, प्रभावोत्पादकता, प्रयोगधर्मिता अधिक होती है। इसलिये जितनी अधिक संख्या में गुणवत्तापूर्ण साधु-साध्वियाँ होगी उतनी ही धर्म की प्रभावना होगी, प्रगति होगी। श्रावक से भी अधिक योग्यता साधु में होती है इसलिये नीचे साधु बनने योग्य व्यक्तियों का वर्णन कर रहा हूँ-

वण्णेसु तीसु एक्को कल्याणंगो तवोसहोवयसा।

समुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।

(224-10 प्र.सा.)

(तीसु वण्णेसु एक्को) तीन वर्गों में से एक वर्ण वाला (कल्लाणंगो) आरोग्य शरीर धारी (तवोसहो) तपस्या को सहन करने वाला (वयसा समुहो) अवस्था से सुन्दर मुखवाला तथा (कुछारहिदो) अपवाद रहित (लिंगग्गहणे जोग्गो हवदी) पुरुष साधु भेष लेने योग्य होता है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णों में से कोई एक वर्ण धारी हो, जिसका शरीर निरोग हो, जो तप करने को समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो, जिसका मुख का भाग भंग दोष रहित निर्विकार हो तथा वह इस बात को बतलाने वाला हो कि इस साधु के भीतर निर्विकार परमचैतन्य परिणति शुद्ध हो तथा जिसका लोक में दुराचारादि के कारण से कोई अपवाद न हो ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहण के योग्य होता है। तथा सत् शुद्र आदि भी तथा योग्य व्रतों की दीक्षा ले सकते हैं।

आचारसार में भी कहा है–

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।
प्राग्विज्ञानः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्ववर्णविर्ण्योङ्गपूर्णः।
भू भृल्लोकाऽविरुद्ध स्वजनपरिजनोन्मोचितो।
श्चिवापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञाति संकीर्तनाद्यैः।

(आ.वीरनंदी 8 पृ.5)

जो दीक्षार्थी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग का है वही दीक्षा योग्य है। शूद्र वर्ण के मानव दीक्षा के योग्य नहीं है। जिसका अंग खण्डित नहीं है जो राजा और लोग से अविरुद्ध है, परिवार के लोगों से अनुमति लेकर आया है, अपस्मारादि रोग से रहित है इस प्रकार जाति आदि के द्वारा प्रज्ञाशील आचार्य प्रथम उसकी शुद्धि जानते हैं।

इन्द्रनंदी आचार्य ने नीतिसार समुच्चय में कहा है कि जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य जाति वाले भद्र, निकट भव्य मिथ्यादृष्टि भी है जो आगे जाकर सम्यग्दृष्टि साधु बनने योग्य है ऐसे शिष्यों को भी संग्रह करके शिक्षा–दीक्षा देने योग्य भी है।

श्रावकं शिष्यकं चापि संग्रहणीयता समाहितः।
विसंघयां शिष्य भक्तानां ग्रहणं नैव निंद्यते।। (24) पृ.17

जैनाभास संघ समूह में से श्रावक को और दीक्षित शिष्य के साथ सतर्कता (सावधान होकर) से संग्रह करना चाहिए। ऐसे जैनाभास संघ शिष्य का संग्रह और भक्ति को करने वाले को स्वीकारना निंदनीय नहीं है। अर्थात् जैनाभास संघ के अनुयायियों को मूलसंघानुसार करके ग्रहण करने में दोष नहीं है।

परीक्ष्य दीक्षा दातव्या मिथ्यादृष्टेरथान्यथा।
दत्ता दर्शनहास्याय स्वोपघाताय जायते।। (25)

पांच प्रकार के मिथ्यादृष्टि पुरुष की अच्छी तरह से परीक्षा करके दीक्षा दाता (दीक्षाचार्य) द्वारा देने योग्य है, अन्यथा याने बिना परीक्षा किये ही दीक्षा नूतन दर्शन याने सिद्धान्त का हास्य और दीक्षा देने वाले और लेने वाले के घात का कारण है।

दीक्षा देने वाले आचार्य दीक्षार्थी की पूर्णतः परीक्षा (जांच पड़ताल) करके फिर दीक्षा देवे। आचार्य सर्वप्रथम उसके वर्ण, जाति परिणाम आदि के बारे में विचार करे, क्योंकि शूद्र जाति शूद्र वर्ण में उत्पन्न हुआ जिन दीक्षा का अधिकारी नहीं।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे।
कुल हीन न दीक्षाऽस्ति जिनेन्द्रोपदिष्ट शासने।। (106)
(प्रायश्चित चूलिका)

सर्वज्ञ–दीक्षा यानि निर्ग्रंथ लिंग (दीक्षा) धारण करने योग्य है। तीनों से भिन्न शूद्र आदि कुलहीन हैं अतः उनके लिए जिन शास्त्र में निर्गन्थ लिंग नहीं है, इसी प्रकार वर्ण संकरता से दूषित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी जिन दीक्षा के योग्य नहीं है और जाति संकर तथा वीर्य संकर संतान भी जिन लिंग के योग्य नहीं है।

लोभिक्रोधि विरोधि निर्दय शयन् मायाविनां मानिनां।
कैवल्यागम धर्म संघ विबुधावर्णानुवादात्मनाम्।
मुंचामो पदतां स्वधर्ममलं सद्धर्म विध्वसिनां।
चित्त क्लेशलतां सत्तां च गुरुभिर्देया न दीक्षा क्वचित्।।
(दा.शा.41)

जो लोभी और क्रोधी हो, विरोधी हो, निर्दयता से दूसरों को गाली देता हो, मानी हो, केवली, आगम, धर्म, संघ और देव इन पर मिथ्या दोषारोपण करता हो, मौका आने पर मैं निर्मल धर्म को छोड़ दूँगा ऐसा कहता हो, सद्धर्म का नाशक हो, सज्जनों के चित्त में क्लेश उत्पन्न करने वाला हो उसे गुरुजन दीक्षा कभी नहीं देवे।

इस प्रकार जातक (दीक्षार्थी) को अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद योग्य को दीक्षा देवें, अयोग्य को नहीं क्योंकि अयोग्य को जिन दीक्षा देने पर दीक्षार्थी और दीक्षाकाचार्य दोनों दूषित होते हैं।

दीक्षा नीचकुलं जानन् गौरवाच्छिष्य मोहतः।
यो ददात्यथ गृह्णाति धर्मोच्छाहो द्वयोरपि।। (108) (प्रायश्चित चूलिका)

जो आचार्य नीच कुल वाला जानकर भी इस नीच कुली को ऋद्धि के

गर्व से अथवा शिष्य की अभिलाषा से दीक्षा देता है और जो दीक्षा लेता है उन दोनों ही का धर्म दूषित होता है। अनगार धर्मामृत ने कहा है-

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम्।। (गा.88 पृ. 693)
निष्कलङ्के ब्रह्महत्यापवादरहित।
क्षमे बालत्ववृद्धवादिरहिते। उक्तं च-
ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्य सुदेशकुलजातिजे।
अर्हंतः स्थाप्यते लिंङ्गे न निन्द्यबालकादिषु।।
यतिवादेर्न सा देया जैनीमुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमालां सतां योग्या मण्डले न विधीयते।।
न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमर्चितम्।
न ही योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्ये।।

जिन मुद्रा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य है। अतः धर्माचार्यों को प्रशस्तवंश आदि प्रशस्त जाति में उत्पन्न हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को जो निष्कलंक है, ब्रह्महत्या आदि का अपराधी नहीं है उसे पालन करने में समर्थ है- अर्थात् बाल और वृद्ध नहीं उसे ही जिन मुद्रा प्रदान करना चाहिये। वहीं साधुपद के योग्य है। *आचार्य जिनसेन ने कहा है-*

विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्पतः।
दीक्षायोग्त्वमाम्नायं सुमुखस्य सुमेधसः।। (158) महा. पु.पर्व 39

जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और बुद्धि सन्मार्ग की ओर है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण के योग्य है।

पिता की अन्वय शुद्धि को कुल और माता की अन्वय शुद्धि को जाति कहते हैं-अर्थात् जिसका मातृकुल और पितृकुल शुद्ध है वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षा का पात्र माना गया है। केवल जन्म से ब्राह्मण आदि होने से ही दीक्षा का पात्र नहीं होता। कहा भी है-

जाति गोत्रादि कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषुते स्युस्त्रये वर्णाः शुद्राः प्रकीर्तिताः।। (493) पर्व 74

जाति गोत्र आदि कर्म शुक्ल ध्यान के कारण है। जिनमें वे होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य कहे जाते हैं। शेष सब शूद्र है। कुल और जाति के साथ सुदेश में जन्म को भी जिन दीक्षा के योग्य बतलाया है।

श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण संघ में प्रवेश करने के अयोग्य माने गये हैं।

1. जिसकी आयु आठ वर्ष से कम है। 2. वृद्ध 3. नंपुसक 4. रोगी 5. अंगहीन 6. कायर या भीरु 7. जड़बुद्धि 8. चोर 9. राजविरोधी 10. पागल 11. अंध 12. दास 13. धूर्त 14. मूढ़ 15. कर्णवार 16. भागा हुआ या भगाया हुआ 17. गर्भणी स्त्री तथा बालक वाली स्त्री। जहाँ तक हम जानते हैं दिगम्बर परम्परा में भी उक्त मुनिदीक्षा के अयोग्य माने गये हैं।

सिद्धान्तसार के प्रायश्चित प्रकरण में कहा है-

ब्राह्मणक्षत्रिययाणां च वैश्यानां च प्रकल्पते।
जैनी मुद्रा विहीनाय दत्ता पापाय जायते।। (148 पृ. 160)

जैनी मुद्रा दिगम्बर दीक्षाधारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही योग्य है। इनसे जो हीन शूद्रादिक है उनको यह दीक्षा दी जायेगी तो दीक्षादाता प्रायश्चित योग्य होता है। उपर्युक्त यह सब वर्णन से सिद्ध होता है कि देश, जाति, कुल, वय, रूप, भाव आदि से योग्य व्यक्ति ही श्रमण दीक्षा के योग्य है। इसके विपरीत जो अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा देता है वह भी प्रायश्चित का भागी है। क्षपणसार, जयधवला आदि शास्त्र से सिद्ध होता है कि म्लेच्छ राजा (क्षत्रिय) की कन्या एवं कर्म भूमिज चक्रवर्ती के वैवाहिक संबंध से जो संतान जन्म लेती है वह भी दीक्षा ले सकती है।

जैन सिद्धान्त में भरतक्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया है। कर्मभूमि और अकर्मभूमि। जिनमुद्रा का धारण कर्मभूमि में ही होता है अकर्मभूमि में नहीं क्योंकि वहाँ धर्म-कर्म प्रवृत्ति का अभाव है। किन्तु अकर्मभूमिज मनुष्य के संयम माना है यह कैसे सम्भव है? इस चर्चा को जयधवला से दिया जाता है। उसमें कहा है-'कम्मभूमियस्य' ऐसा कहने से 15 कर्मभूमिओं के मध्य खण्डों में उत्पन्न हुए मनुष्य का ग्रहण करना चाहिए। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में विनीत नाम वाले मध्य खण्ड को छोड़कर शेष 5 खण्डों में

रहने वाले मनुष्य को यहाँ अकर्म भूमियाँ कहा गया है क्योंकि इन खण्डों में धर्म कर्म की प्रवृत्ति असम्भव होने से अकर्म भूमिपना बनता है।

शंका – यदि ऐसा है तो वहाँ संयम का ग्रहण कैसे संभव है?

समाधान – ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि दिग्विजय करने में प्रवृत्त चक्रवर्ती की सेना के साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यमखण्ड में चले जाते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदि के साथ जिनका वैवाहिक संबंध हो जाता है उनके संयम ग्रहण करने में कोई विरोध नहीं है अथवा उनकी जो कन्यायें चक्रवर्ती आदि के साथ विवाही जाती है उनके गर्भ से उत्पन्न बालक यहाँ मातृपक्ष की अपेक्षा अकर्मभूमियाँ कहे गये हैं। इसीलिये कोई विरोध नहीं है क्योंकि इस प्रकार के मनुष्यों की दीक्षा योग्य, होने में कोई निषेध नहीं है।

इस तरह म्लेच्छ कन्याओं से उत्पन्न कर्मभूमिज पुरुषों को भी दीक्षा के योग्य माना गया है किन्तु उनका कुल आदि शुद्ध होना चाहिये। कहा भी है– उत्तम देश कुल और जाति में जन्में हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को जिनलिंग धारण कराया जाता है, निन्दनीय पुरुषों और बालकों को नहीं। विद्वानों से पूजनीय जिनमुद्रा पतित जनों को नहीं देना चाहिये। सत्पुरुषों के योग्य रत्नमाला को कुत्ते के गले में नहीं पहनाया जाता। पूजनीय जिनलिंग कोमल मति बालक को नहीं दिया जाता। उत्तम बैल के योग्य भार को वहन करने में बछड़ा नहीं लगाया जाता।

जैनागम के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 8 वर्ष के बाद चतुर्थकाल में योग्य पुरुष दीक्षा धारण भी कर लेते थे। उस समय योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होने के कारण यह आयु कोई कम नहीं थी। परन्तु वर्तमान में द्रव्य, क्षेत्र काल भाव हीन होने के कारण इतनी कम आयु में दीक्षा धारण करना आगमोक्त है या नहीं यह विषय मुझे आगम में अभी तक नहीं मिला है। इसीलिये विज्ञ दीक्षार्थी एवं दीक्षा दाता को द्रव्य, क्षेत्र कालादि का अध्ययन करके ही दीक्षा देनी चाहिये। जिससे स्व पर धर्म की अप्रभावना न हो।

वर्तमान काल में कुछ देखने में सुनने में एवं पढ़ने में आता है कि अयोग्य को भी कुछ श्रमण संघ वृद्धि के लिये, अपनी प्रसिद्धि के लिये दीक्षा दे देते हैं जिससे दीक्षार्थी प्रभावना के परिवर्तन में अप्रभावना करते

हैं या फिर दीक्षा त्यागकर गृहस्थ हो जाते है। ऐसे दीक्षार्थी एवं दीक्षा दाता भी जैन धर्म की अप्रभावना के कारण बनते हैं, जैन संघ के अपकारी बनते हैं। इसलिये ये भी पाप कर्म के भागीदार है एवं प्रायश्चित के भागी हैं।

उपर्युक्तवर्णन से सिद्ध होता है कि जैन तो चारों गति के तथा जैन एवं जैनेतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वंश के मनुष्य बन सकते हैं परन्तु साधु जैन एवं जैनेतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वंश में उत्पन्न मनुष्य ही बन सकते हैं। इसलिये वर्तमान में आवश्यकता है आगम की मर्यादा के अनुसार स्वेच्छा से पवित्र भावना से जो जैनी बनना चाहता है उसे जैनी बनाया जाये और उसका सम्मान सत्कार किया जावे। इसी प्रकार जैन एवं जैनेतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वंश में उत्पन्न योग्य व्यक्ति को जो स्वेच्छा से आत्मकल्याण के लिये तथा धर्म की प्रभावना के लिये साधु बनना चाहता है उसे साधु बनाया जाये एवं उसकी नवधा भक्तिएवं सप्त गुणों से युक्त होकर आहार, औषधि, ज्ञान, वसतिका दान आदि देकर सेवा की जाये। उपगूहन स्थिति–करण वात्सल्य अंग से युक्तहोकर उनकी सेवा–वैयावृत्य की जाये उनका भरपूर आदर सत्कार किया जाये। आहार, विहार, निहार, निवास, अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, शिविर, संगोष्ठी, धार्मिक–प्रशिक्षण, साहित्य–प्रकाशन आदि किया जाये। **साधु बनने के बाद गृहस्थावस्था के वंश के परिवर्तन से सब के एक ही वंश अर्थात् श्री वंश हो जाता है, इसीलिये गृहस्थावस्था की जाति या वंश को लेकर भेद–भाव, ऊँच–नीच, तेरा–मेरा, झगड़ा–कलह विघटन मनमुटाव नहीं करना चाहिये।**

सत्य ही शिव (मंगल, शाश्वतिक) है, एवं शिव ही सुन्दर है–''सत्यं–शिवं–सुन्दरम्'' इस त्रिपुटी सहित ''सच्चिदानन्द'' स्वरूप भगवान् है। अतः सत्य ही परमात्मा है, परमात्मा ही सत्य स्वरूप है। केवल वचन के द्वारा कहा हुआ ही सत्य पूर्ण सत्य नहीं है–परन्तु वाचनिकसत्य, कायिकसत्य (शारीरिक) एवं मानसिकसत्य ही यथार्थ सत्य है।

(लेखक की कृति – 'धर्म विज्ञान बिन्दु' से)

अध्याय –6

प्रभावशाली व्यक्तित्व की कमी

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतर जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

श्रेष्ठ महापुरुष जो जो आचरण करते हैं, वही आचरण अन्य लोग अनुकरण करते हैं क्योंकि मनुष्य एक अनुकरण प्रिय प्राणी है। महापुरुष जो आदर्श प्रमाण प्रस्तुत करते हैं लोग उनका अनुकरण करते हैं क्योंकि **'महाजनः गता सा पन्था'** अर्थात् महाजन जिस मार्ग में गमन करते हैं, अन्य साधारण लोग उनका अनुसरण करते हैं।

यह विश्व का एक सत्य है कि पुराण, इतिहास ने महापुरुष, युगपुरुष तीर्थंकरों को कम बनाया है परन्तु महापुरुषों ने ही पुराण, इतिहास को अधिक बनाया है, उसे प्रभावित किया है। महान् प्रभावशाली गरिमामय व्यक्तित्व के धनी महापुरुषों ने परम्परागत प्रवाह में न बहकर, अप्रवाहित होकर उस प्रवाह में डुबकी लगाई। उस प्रवाह को सही दिशा दी, प्रवाह में डुबने वालों को तारा। प्रवाह को पार करने की शिक्षा दी इसीलिये तो कहा है:–

लोग कहते हैं बदलता है जमाना अकसर।
मर्द वो है जो जमाने को बदल देते हैं।

और भी कहा है –

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले।
खुदा बन्दे से खुद पूछे कि बता तेरी रजा क्या है?
लीक लीक गाड़ी चले लीक ही चले कपूत।
लीक छोड़ तीनों चलें शायर, शूर, सपूत।

उपुर्यक्त कथनों का भावात्मक रहस्य यह है कि महापुरुष लकीर के फकीर संकीर्ण, अन्धश्रद्धालु, मिथ्या परम्परावादी पुरुषार्थ हीन, संकीर्णस्वार्थी नहीं होते हैं। वे सत्य के प्रबल समर्थक समता के पुजारी, शान्ति के अग्रदूत, समस्याओं के लिए वज्र के समान, हृदय से मक्खन के समान

कोमल होते हैं। वे इन गुणों के कारण दूसरों को भी प्रभावित करके धार्मिक बना देते हैं। जैनागम, बौद्ध साहित्य, वैदिक साहित्य, कुरान, बाइबिल आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर, बुद्ध, अवतारी पुरुष, ईसा मसीह, पैगम्बर, साधु, सन्तों से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तिधर्म मार्ग में अग्रसर हो जाते हैं। तीर्थंकर से प्रभावित होकर देव, मनुष्य की तो बात दूर रहे पशु तक धार्मिक बन जाते हैं। महात्मा बुद्ध, अशोक, राहुल, संघमित्रा आदि के कारण बौद्ध धर्म केवल भारत में ही नहीं तिब्बत, चीन, श्रीलंका, बर्मा आदि विदेशों में भी फैल गया। ईसा मसीह को क्रास में कीले ठोंककर दारूण दुःख देने के बाद भी उनका शत्रु के प्रति भी क्षमादान एवं मानव सेवाभाव के कारण आज ईसाई धर्मावलम्बियों की संख्या करोड़ों में है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के कारण सत्य, अहिंसा, सदाचार, सादा जीवन का वर्चस्व स्वतंत्रता संग्राम में भी प्रभावी रहा। अनेक देश–विदेश में करोड़ों भक्त एवं अनुयायी बने। आचार्य शान्ति सागर जी के कारण इस शताब्दि में दिगम्बर जैन की प्रभावना बढ़ी इसके पहले कुछ शताब्दि तक जैन धर्म की प्रभावना तथा प्रचार–प्रसार कम हो गया था। अभी कुछ अच्छे साधु होने के कारण कुछ प्रचार–प्रसार हो रहा है।

कुछ शताब्दियों से जैन धर्म में विशेष प्रभावशाली व्यक्तित्व की कमी रही है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। यथा – श्रुतकेवली भद्र बाहु के समय में जब 12 वर्ष का महा दुष्काल पड़ा तब तक कुछ साधु (12,000 साधु) भद्रबाहु आचार्य के साथ दक्षिण भारत चले गये और कुछ साधु उत्तर भारत में ही रह गये। दुष्काल के कारण उत्तर भारत में रहने वाले साधुओं में कुछ परिवर्तन हुआ और उस समय से दिगम्बर एवं श्वेताम्बर रुप से दो भेद हुए। भेद से संगठन, प्रभावना, मित्रता, सौहार्द्र, वात्सल्य भाव, उपगूहन, स्थितिकरण में मन्दता आती ही है। इससे भी व्यक्तितत्व में प्रभावोत्पादकता में ह्रास होता है। भेद से अपने पक्ष का श्रेष्ठ–ज्येष्ठ–प्राचीन सिद्ध करने में एवं दूसरों के पक्ष को कनिष्ठ–लघु–अर्वाचीन सिद्ध करने में समय, शक्ति, योग्यता का दुरुपयोग होना स्वाभाविक है। इससे जो समयादि का सदुपयोग स्वपर कल्याण में होना चाहिए वह नहीं हो पाता

है। इससे भी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व निर्माण नहीं हो पाता है। यह भेद-विघटन-फूट की परम्परा आगे बढ़ते-बढ़ते अभी तक दिगम्बर जैनों में बीस पंथी, तेरह पंथी, तारण पंथी, कांजीपंथी, शुद्ध आम्नाय आदि अनेक भेद-प्रभेद तथा श्वेताम्बर जैनों में मूर्तिपूजन, स्थानकवासी, तेरहपंथी आदि अनेक भेद-प्रभेद हो गये हैं। दुःख के साथ कटुसत्य लिखना पड़ रहा है कि महान् उदार धर्म के अनुयायी स्वयं को मानने वालों में इतनी संकीर्णता-अनुदारता-असहिष्णुता है कि पूजा पाठ, मंदिर, गुरु, ग्रन्थ, खान-पान आदि के छोटे छोटे अन्तर से भी एक दूसरों को विधर्मी मानते हैं। जिस प्रकार एक जल स्रोत अनेक विभाग में विभाजित होने पर उसका प्रवाह मन्द पड़ जाता है उसी प्रकार इस भेदभाव से व्यक्तित्व-धर्म का प्रभाव मन्द पड़ जाता है।

जैन धर्म के तीर्थंकर अणु से लेकर विश्व तक, आत्मा से लेकर परमात्मा तक, लौकिक से आध्यात्मिक तक, अनन्त भूत से लेकर अनन्त भविष्यत् तक जानते हैं और विश्व की समस्त (718) भाषाओं में सर्वांग से उपदेश करते हैं। अर्थात् तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, विश्वविद्याविशारद-विश्व भाषा वाचक-उपदेशक होते हैं। 'गुरु का अनुकरण करने वाला शिष्य होता है' के अनुसार गणधर, श्रुतकेवली आचार्यादि होते हैं। परन्तु यह परम्परा, गुणवत्ता कुछ शताब्दियों से तेजहीन हो गई। जैनी, पंडित, श्रावक, साधु, उपाध्याय, आचार्य आदि कुछ निश्चित विषय ग्रन्थ, अध्याय, श्लोक, गाथा पढ़कर के संतुष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग तो अपने संकीर्ण मत ही को सिद्ध करने के लिए तथा दूसरे मतवालों को नीचा सिद्ध करने के धर्म शास्त्र पढ़ते हैं। उसी शास्त्र में जो अन्य विषय होता है उसको न पढ़ते हैं न मानते हैं। कुछ शास्त्र पढ़कर पंडिताई करते हैं एवं फूट डालते हैं, दूसरों की निन्दा करते हैं, ज्ञान का व्यापार करते हैं। कुछ व्रती ब्रह्मचारी बन करके भी केवल बाह्य आडम्बर, क्रियाकाण्ड, चन्दा आदि में लग जाते हैं। कुछ आर्यिका-क्षुल्लक, साधु-उपाध्याय, आचार्य आदि बनने के बाद भी महान् सार्वभौम व्यापक शोधपूर्ण स्वमत-परमत तथा तात्कालीन ज्ञान-विज्ञान के साहित्य का न अध्ययन करते हैं न अध्यापन करते हैं न शिविर, संगोष्ठी का आयोजन करते, न ही साहित्य की रचना करते हैं,

न ही प्रवचन करते हैं किन्तु जिससे प्रसिद्धि कीर्ति हो, या धन का आगमन हो तो ऐसे काम में लग जाते हैं। कुछ तो 'आद हिदं कादव्वं' अर्थात् आत्महित करना चाहिए के सिद्धान्त के अनुसार घड़े के अन्दर के दीपक के समान ही रहते हैं। कुछ तो केवल परम्परा को निभाना ही अपना धर्म परन्तु सार्वभौम, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त, समन्वयात्मक ज्ञान से युक्तजैनिओं का होना आधुनिक युग की मांग है। प्राचीन आचार्यों ने भी इस आवश्यकता को स्वीकार किया है। यथा-

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परनिन्दया।
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टामिष्टाक्षरः।।5।।
(आ.शा.पृ.4)

जो त्रिकालवर्ती पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञा से सहित हैं, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जान चुका है, लोक व्यवहार से परिचित है, अर्थ लाभ और पूजा प्रतिष्ठा आदि की इच्छा से रहित, नवीन-नवीन कल्पना की शक्ति रूप अथवा शीघ्र उत्तर देने की योग्यता रूप उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करने के पूर्व में ही वैसे प्रश्न के उपस्थित होने की सम्भावना से उसके उत्तर को देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकार के प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनको सहन करने वाला है अर्थात् न तो उनसे घबराता है और न उत्तेजित ही होता है। श्रोताओं के ऊपर प्रभाव डालने वाला है, उनके (श्रोताओं के) मन को आकर्षित करने वाला अथवा उनके मनोगत भाव को जानने वाला है तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणों का स्थान भूत हैं ऐसा संघ का स्वामी आचार्य दूसरों की निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दों में धर्मोपदेश देने का अधिकारी होता है।

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने।
परिणतिरूरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा।
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये सोऽस्तु गुरुः सताम्।। (6)

जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृत्ति पवित्र है जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है, मोक्ष मार्ग के प्रचार रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करता है, जो अभिमान से रहित है, लोक और लोक मर्यादा का जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोक सम्बन्धी इच्छाओं से रहित है तथा जिसमें और भी आचार्य पद के योग्य गुण विद्यमान है, वही हेयोपादय विवेक ज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

जीवनोपयोगी दोहा द्वादश – आचार्य श्री कनकनन्दी

भोजन के बाद शतपदयात्रा विश्राम करो हो थोड़ा।
जीविकार्जन हो न्याय नीति पूर्ण सदाचार सत्य बोला ।।5।।

***

गुरुगुणीजने करो हो विनय, दीन दुःखी पर दया।
हर जीव प्रति मैत्री की भावना समता भाव हो सदा ।।6।।

***

परिवार हित समाज सहित, वैश्विक हो प्रेम धारा।
शरीर के हित आध्यात्म सहित, सापेक्ष हो भाव धारा ।।7।।

***

कट्टर रूढ़ि सङ्कीर्ण रहित हो जीवन की हर धारा।
हो आध्यात्मिक वैज्ञानिक युत सतत विकास धारा ।।8।।

***

जहाँ हो वैश्विक आध्यात्मिक दृष्टि, होती है अनन्त सीमा।।
जहाँ हो भौतिक सङ्कीर्णता दृष्टि, होती है संक्षिप्त सीमा ।।9।।

अध्याय -7

समुचित प्रभावना की कमी

जैसे प्रज्ज्वलित दीपक स्वयं को प्रकाशित करता है और दूसरे अप्रज्ज्वलित दीपकों को प्रज्ज्वलित करने के साथ-साथ दूसरों को प्रकाशित करता है, वैसे ही जो स्वयं धार्मिक प्रभावक तेजस्वी होता है वह भी दूसरों को प्रभावित-प्रेरित करता है। इसलिये महात्मा बुद्ध ने कहा था- **'आद दीवो भवो पर दीवो भवो'** अर्थात् आत्म दीपक-प्रभावक बनो और दूसरों को भी प्रकाशित करो। आचार्य अमृतचन्दजी ने भी कहा है-

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।30।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये ही तीन रत्न कहलाते हैं। इनके प्रताप से निरन्तर ही अपना आत्मा प्रभावित करना चाहिए और दान तप, जिनेन्द्रपूजन और विद्या के अतिशय चमत्कारों से जैनधर्म प्रभावित करना चाहिए। (पुरुषार्थ सि.पृ.89 श्लो. 30)

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।। (8)

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्तिके अनुसार जिनशासन के माहात्म्यको प्रकट करना प्रभावनागुण है।

(रत्नक. श्रा. पृ. 3 श्लोक 18)

प्रकृष्ट-उत्कृष्ट-उदार-निर्मल-पवित्र-साम्य भाव को प्रभावना कहते हैं। प्रभावना पहले स्वयं में होती है उसके अनन्तर उसका प्रचार-प्रसार विभिन्न माध्यम से किया जाता है। रत्नत्रय रूपी प्रकाश को पहले स्वयं में प्रकाशित करना चाहिए। उसके बाद दूसरों को प्रकाशित करना चाहिए। जैसे जो दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होता है वही दीपक दूसरों को प्रकाशित करता है। बुझा हुआ दीपक न स्वयं को प्रकाशित कर सकता है न दूसरों को प्रकाशित कर सकता है। प्रभावना के अनेक कारक-कारण-उपाय होते हैं। जैसे-दान, पूजा, उपवास, ज्ञान, उत्सव, सांस्कृतिक

कार्यक्रम-रथयात्रा, पंचकल्याणक, वेदी-प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, सत्साहित्य, धार्मिक पत्रिका आदि। परन्तु प्रकृष्ट भावना या महान् उदार उद्देश्य के बिना उपरोक्त कारक, कारण भी वस्तुतः प्रभावना के अंग, उपाय भी नहीं बन सकते हैं। जैसे अंकुरोत्पत्ति शक्ति से रहित बीज को कितना भी पानी, खाद, औषध देने पर भी उस बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अन्तरंग अच्छी भावना से रहित बाह्य प्रभावना की शोभा उसी प्रकार है जिस प्रकार शव यात्रा की शोभा है। नाम बढ़ाई काम के लिये जो दानादि बाह्य प्रभावना करते हैं उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं:-

कुछ व्यक्ति माता-पिता, भाई-बहन की सेवा-सुश्रषा, व्यवस्था के लिए तो बेपरवाह हैं, यहाँ तक कि अपने ग्राम, नगर, में आगत उत्तम पात्र स्वरूप मुनि, आर्यिका आदि को दान-मान-सम्मान नहीं देते हैं, ग्राम के मंदिर में पूजा दर्शनादि नहीं करते हैं वो भी पंचकल्याणकादि में भीड़ देखकर लाखों रूपयों की बोली लेते हैं। देवदर्शन, तीर्थयात्रा, पूजा, पंचकल्याणकादि का मुख्य उद्देश्य स्वदर्शन अन्तर्यात्रा, स्वकल्याणक के लिये हैं। अभी अनेक व्यक्ति धर्मकार्य को धनकार्य, परमार्थ को अर्थोपार्जन के उपाय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अभी पंचकल्याणक तो पंचों के कल्याणक (कमेटी वालों की स्वार्थसिद्धि) रूप में हो रहा है। वहाँ विशेषतः धर्म के नाम पर धन की पूजा, धर्मों के नाम पर धनी की पूजा, प्रभावना के नाम पर बाह्य आडम्बर, मनमंजन (भाव निर्मल) के स्थान पर मनोरंजन, बैण्डपार्टी, संगीत-नाटक कार्यक्रम के अतिरिक्त पंचकल्याणक की मूल क्रिया के स्थान पर बोली, धनी व्यक्तियों के मान सम्मान की क्रिया होती है। धार्मिक कार्य के नाम पर पहले शोषण भी करते हैं और जो यात्री उस कार्यक्रम में आते हैं उनकी व्यवस्था नहीं करते, धनी व्यक्ति की व्यवस्था करेंगे। यदि साधारण व्यक्ति की करेगें तो शोषण करने के लिए। उसी प्रकार बड़े-बड़े तीर्थस्थान की भी महिमा है।

जो व्यक्ति बोली में लाखों रूपये खर्च करते हैं वे भी सत्साहित्य प्रकाशन, प्रचार-प्रसार के लिए, बच्चों के धार्मिक संस्कार के लिए, धार्मिक विद्यालय, शिविर के लिए 10-20 रूपये भी दान में नहीं देंगे। मन्दिर, धर्मशाला, मूर्तिनिर्माण, पंचकल्याणक जरूर करना चाहिए। परन्तु

इससे भी अधिक आवश्यक है ज्ञान प्रचार, बच्चों में संस्कार, स्वयं का निर्माण।

आज जैन लोग करोड़ों-अरबों रूपये निर्जीव मूर्ति को भगवान् बनाने में खर्च करते हैं परन्तु हजारों रूपये भी सजीव बच्चों को संस्कार से महामानव या भगवान् बनाने में खर्च नहीं करते हैं। मैं मंदिर मूर्ति, पंचकल्याणक का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु व्यर्थ खर्च, बाह्य आडम्बर का अवश्य विरोधी हूँ। कुछ त्यागी व्रती, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी और पण्डित-प्रतिष्ठाचार्य भी आडम्बर, बोली आदि आगम विरुद्ध कार्य को करते, करवाते हैं। उनकी निन्दा जैन पत्रिकाओं तक में बार-बार आती है परन्तु वे ऐसे कार्य समाज के लिए करके निन्दा के पात्र बनते हैं। कुछ निहित एवं स्वार्थ सिद्धि के बाद वे भी उन साधु आदिकी निन्दादि करते हैं तथा स्वार्थी व्यक्ति भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधु का इस्तेमाल करते हैं, साधु की सेवा-व्यवस्था भी नहीं करते हैं।

धर्म की प्रभावना तथा संगठन-प्रेम के लिए संस्था-सभा, समिति, मण्डल मिलनादि का जन्म हुआ है। परन्तु इनके माध्यम से भी समाज में फूट, वैमनस्य, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, वैरत्व अधिक से अधिक बढ़ रहा है वे अंग्रेजों की नीति "फूट डालो राज करो" को पूर्ण चरितार्थ करते हैं। संगठन की शक्ति ऐसी एक शक्ति है जिससे कष्ट-साध्य कार्य भी सुख-साध्य हो जाता है। इसलिये कहा है **'संघै शक्ति कलौ युगे'** अर्थात् कलियुग में संघ, संगठन, एकता में शक्ति है। इसलिये कहा है-

By uniting we stand, by dividing we fall. अर्थात् संगठन से हम उन्नति कर सकते हैं, प्रभावना कर सकते हैं, जीवित रह सकते हैं एवं विघटन से मर जायेंगे-मिट जायेंगे। इसलिये मेरी कृति 'संगठन के सूत्र' में मैंने लिखा है-

संगठन है अमृततत्त्व जीने और जिलाने का।
विघटन है ऐसा तत्त्व, मरने और मारने का।।

मैंने जो भारत तथा सविशेष करके जैन धर्मानुयायियों के दुर्बल बिन्दुओं का अनुभव किया है-वह है असंगठन, अप्रेमभाव, फूट, अन्तःकलह। इसलिये तो कर्नाटक के अजैन बन्धु जैनियों को उलाहना देते हुए कहते हैं

'डोम्बरू कोडुदिल्ला केट्टरु, जैनरु कोडुदाग कोट्टरु' अर्थात् डोम्ब यदि मिलेगें नहीं तो खेल नहीं दिखा सकते हैं इसलिए नहीं मिलना, संगठित नहीं होना उनके लिए आपत्तिजनक है परन्तु जैन मिलेंगे तो झगड़ा करते हैं। इसलिये जैनियों को एक साथ नहीं मिलना चाहिए। संगठन के लिए मैंने निम्नोक्तएक दोहा बनाया है-

हम सबके, सब हमारे यह ही एकता का नारा है।

आत्मवत् भाव सर्व भूतेषु यह मन्त्र सबसे प्यारा है।।

धर्म की प्रभावना के लिये अनेक जैन पत्रिकायें निकलती है परन्तु उसमें विशेषतः स्व की प्रशंसा एवं दूसरों की निन्दा निकलती है तथा विज्ञापन की आड़ में धन प्रभावनार्थ व्यसन प्रभावना करते हैं और आडम्बर, चुटकी, गुटका, शीतल पेय जलादि से अलौकिक सुख व ताजगी दिलाना चाहते हैं। किसी से भूल होने पर स्थितिकरण, उपगूहन, वात्सल्य प्रभावनादि अंग के अनुसार उसकी भूल सुधार अवश्य करना चाहिए परन्तु पत्रिका में नाम देकर निन्दात्मक लेख नहीं लिखना चाहिए। इससे स्वयं की, दोषी की, धर्म की अप्रभावना होती है। जैसे माता, पुत्री, आदि के गुप्तांग में रोग होने पर उसकी योग्य चिकित्सा एकान्त में करना चाहिए परन्तु सबके सम्मुख खोलकर उस अंग को नहीं दिखलाना चाहिए। सामान्य रूप से नाम दिये बिना गुण दोष की समीक्षा, समाधान पत्रिका में देना चाहिए। इससे रचनात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है परन्तु नाम देने से विपरीत प्रभाव पड़ता है।

आत्म कल्याण के लिए व्रत-नियम दीक्षादि योग्य पात्र को अवश्य देना चाहिए परन्तु अयोग्य पात्र को नहीं देना चाहिए। जैन धर्म, जैन व्रत, जैन दीक्षा स्वैराचार विरोधनी है। जैसे आहारादि दान कुपात्र को देने से विपरीत फल मिलता है वैसा ही इस कार्य से उससे भी अधिक भयंकर फल इहलोक में परलोक में गुरु शिष्य, समाज को मिलता है। लोभ से शिष्य बनाना भी सचित्त परिग्रह है एवं परिग्रह पाप का कारण है एवं पाप-पतन का कारण है। आचार्य-उपाध्याय, साधु-साध्वी, क्षुल्लकादि का मुख्य कर्त्तव्य है कि ध्यान, अध्ययनादि से आत्मकल्याण करना तथा समयानुसार परोपकार भी करना। परन्तु आत्म कल्याण को छोड़कर स्व-आत्मसिद्धि

को छोड़कर प्रसिद्धि के लिए संस्था, चन्दा, चिट्ठा में नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि इसमें परिग्रह संचय-संरक्षणादि होता है, रागद्वेष होता है, निन्दा-प्रशंसादि होती है जो कि आत्म पतन के कारण है। इसी ही प्रकार परिग्रह गाड़ी, चौका, नौकरादि नहीं रखना चाहिए। मन्त्रादि का प्रयोग स्वार्थ के लिए नहीं करना चाहिए परन्तु धर्म की प्रभावना के लिए कर सकते हैं।

धर्म की प्रभावना के लिए चरित्र-भ्रष्ट राज नेताओं को धार्मिक कार्यक्रम में निमंत्रण देना वर्तमान में आधुनिकता, फैशन, गौरव, स्वार्थसिद्धि, भीड़ इकट्ठा करने का साधन मानने लगे हैं। यदि कोई कार्यक्रम में नेता, अभिनेता, (संगीतकार, सिनेमा के हीरो) नहीं आते हैं तो उस कार्यक्रम को फीका मानने लगते हैं। उसके लिए भेड़चालों की भीड़ भी लगती है। सहज रूप से यदि धर्म की भावना लेकर आते हैं तो उन्हीं का स्वागत करो, न कि अपनी प्रदर्शनी, प्रसिद्धि, प्रभावना के लिए या आपकी स्वार्थसिद्धि के लिए आते हैं उनका। मेरा भाव यह है कि पंचकल्याणकादि में जो आवश्यक कार्य, खर्च हैं उसके लिए स्वार्थत्याग, दानभाव, सेवाभाव से स्वशक्तिके अनुसार प्रदर्शन के बिना तन-मन-धन-समय से सहकार करें, योगदान दें। जो जितना अधिक से अधिक योगदान करेगा उसको उतना ही धर्म लाभ-पुण्यलाभ होगा-यह ही उसका प्रतिफल है।

साधु आदि के पिच्छी, कमण्डल, केशलोंच, शास्त्रदि उपकरण की बोली न स्वयं लगाए, न लगवाएं और न श्रावक को लगाने दें बल्कि जो व्रतादि स्वीकार करेगा उसके हाथों से समर्पण करवाना चाहिए। साधु को अपनी प्रसिद्धि के लिए जन्म जयन्ती नहीं मनवाना चाहिए। साधु विश्व के सर्वश्रेष्ठ आदर्श पुरुष होते हैं, उन्हें कलंकित नहीं करना चाहिए। अन्य धर्मात्माओं को भी साधुओं को आदर्श रखना चाहिए एवं उन्हीं की सेवा करना चाहिए।

साधु व्रती के बाद पण्डित का स्थान महत्वपूर्ण है परन्तु अनेक पण्डित जिनवाणी माता को बेचते रहते हैं एवं पंथवाद को उकसाते रहते हैं। 'विद्या ददाति विनयं' के विपरीत इनका एक मुख्य लक्षण अहंकार है। उनका जीवन साधारण जन से भी पतित, निन्दनीय, अंधकारपूर्ण रहता है। वे उपदेश देते हैं 'टन भर', सुनते है 'मन

भर', ग्रहण करते हैं 'क्षण भर', चलते हैं न 'कणभर'। नीतिकार ने कहा भी है–

सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तक वाचका:।
ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलायस्ते महीतले।।

विश्व में पुस्तक पढ़ने के समान धर्म का उपदेश करने वाले सुलभ हैं परन्तु जो स्वयं धर्म का आचरण करते हैं वे दुर्लभ होते हैं। जैनधर्म एक सार्वभौम, स्वातन्त्र्य, वैज्ञानिक, गणितीय 'सर्वजनहिताय सर्व जन सुखाय' त्रिकाल अबाधित, वस्तु-स्वाभावात्मक धर्म है। जैन धर्म में विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान कला-विद्या विभिन्न विद्याओं के सूत्र भरे हुये हैं। परन्तु इस वैज्ञानिक तार्किक, शोध-बोध के युग में भी जैन साधु-साध्वी श्रावक पण्डितादि कोई विशेष युगानुकुल वैज्ञानिक शोध करके धर्म का प्रचार नहीं कर रहे हैं। रटे रटैया, घिसे पिटैया, लकीर के फकीर बनकर रूढ़िवादी बनते हैं। विज्ञान के पास प्राचीन विरासत नहीं होने पर भी, अन्य मत मतान्तर में वैज्ञानिक तथ्य अधिक नहीं होने पर भी उसके अनुयायी जितने आगे बढ़ रहे हैं इसके अनुपात में जैनियों की गति अति ही मन्द है और जो इस शोधपूर्ण कार्य को कर रहे हैं उसको भी विशेष सहायता या सराहना नहीं मिल रही है।

वर्तमान में भीड़ को प्रभावना मानते हैं, अच्छी बोली होने पर अच्छा पंचकल्याणक मानते हैं, शादी, विवाह, प्रीतिभोज (पार्टी) में मद्यपान, धूम्रपान, वेश्या-नाच,ब्लू फिल्म देखने को आधुनिकता मानते हैं। हिंसात्मक प्रसाधन यथा-नेलपॉलिश, लिपस्टीक, शेम्पू, चर्म की वस्तुओं का प्रयोग, होटल, बाजार में खड़े होकर खाना, बफर सिस्टम, बाजार में लावारिस के समान घूमने को फैशन मानते हैं। आधुनिक जैनियों के आधुनिक षट् कर्तव्य निम्न प्रकार हो गये हैं–

पेटपूजा धनोपास्ति, सिगरेट बुटपालिशं।
होटलं सिनेमाश्चेति षट्कर्माणि दिने-दिने।।

अतः उनके उद्देश्य स्वभावादि निम्न प्रकार हैं–

If character is lost nothing is lost.
If health is lost some thing is lost.
But if wealth is lost everything is lost.

''सत्य अहिंसा और प्रेम से बस इतना हमारा नाता है।
दीवारों पर लिखवा देते हैं, दीवाली पर पुतवा देते हैं।''

वर्तमान काल में अधिकांश व्यक्ति निम्न कारणों से धर्म करते हैं–

भयं दाक्षिण्य कीर्तिं च लज्जया आशा तथ्यैव च।
पंचमि पंचमकाले जैनो धर्म: प्रवर्तते।।

पंचम काल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय से (2) अपनी योग्यता का प्रदर्शन के लिए (3) कीर्ति के लिए (4) लज्जा से (5) आशा से पालन करेंगे।

धर्म की प्रभावना के लिए सच्चा हृदय, उदारभाव, निस्वार्थ मनोवृत्ति, कष्ट सहिष्णुता, निस्वार्थ प्रेम, परोपकार, क्षमता, समता, दक्षता, गंभीरता, त्याग-भाव आदि गुण चाहिए। जैनधर्म को युगानुकूल व वैज्ञानिक आधुनिक प्रणाली से प्रतिपादन प्रचार-प्रसार करना चाहिए। आदिनाथ तीर्थंकर एवं महावीर तीर्थंकर की उपदेश प्रणाली अलग थी तथा मध्य के 22 तीर्थंकर की प्रणाली अलग थी। क्योंकि भगवान् आदिनाथ के शिष्य सरल एवं जड़ होने से तथा भगवान् महावीर के शिष्य वक्र एवं जड़ होने से उन्हें विस्तार से समझाने की आवश्यकता होती है। मध्य के 22 तीर्थंकरों के शिष्य सरल एवं प्राज्ञ होने से उन्हें संक्षिप्त से समझाने की आवश्यकता होती है।

अजितनाथ तीर्थंकर से लेकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर्यंत 22 तीर्थंकर के शिष्य सरल एवं प्राज्ञ होने के कारण केवल उनके लिए सामायिक चारित्र का विधान था परन्तु ऋषभदेव के शिष्य सरल एवं जड़ होने के कारण तथा भगवान् महावीर के शिष्य कुटिल एवं जड़ होने के कारण इनके लिये छेदोपस्थान संयम का विधान है। मूलाचार में कहा भी है–

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसति।
छेदावठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य।। (535) पृ. 405

बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु भगवान् ऋषभदेव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं।

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत 22 तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु छेदोपस्थापना संयम का वर्णन वृषभदेव और वर्धमान

स्वामी ने किया है।

आचाक्खिदुं विभाजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदापंच पट्ठात्ता।। (536)

जिस हेतु से कहने, विभाग करने और जानने के लिए सरल होता है उस हेतु से महाव्रत पांच कहे गये हैं। कहने के लिये अथवा अनुभव करने के लिये तथा पृथक्-पृथक् भावित करने के लिये और समझने के लिये भी उनका सुख से अर्थात् सरलता से ग्रहण हो जाता है। अर्थात् जिस हेतु से अन्य शिष्यों को प्रतिपादन करने के लिये अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिये विभाग करके समझने के लिये भी सामायिक संयम सरल हो जाता है इसलिये महाव्रत पांच कहे गये हैं।

आदीय दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठ दुरणुपाले च।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति।। (537)

आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य कठिनता से शुद्ध होने से तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के तीर्थ में दुःख से उनका पालन होने से वे पूर्व के शिष्य और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य और अयोग्य को नहीं जानते हैं।

आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य दुःख से शुद्ध किये जाते थे, क्योंकि वे अत्यन्त भोला स्वभावी होते थे तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में शिष्यों का दुःख से प्रतिपालन किया जाता है, क्योंकि वे अत्यन्त वक्र स्वभावी होते हैं। ये पूर्वकाल के शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य दोनों समय के शिष्य भी स्पष्टतया योग्य अर्थात् उचित और अयोग्य अर्थात् अनुचित नहीं जानते हैं, इसलिये आदि और अन्त के दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थान संयम का उपदेश दिया है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है **'म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा में ही समझाने से अधिक सफलता मिलती है'** इसीलिये वर्तमान युग की जो मानसिकता है उसके अनुसार समझाने की आवश्यकता है। मेरा अनुभव है कि बाल्य एवं किशोरावस्था वालों को आत्मीयता से आधुनिक प्रणाली से समझाने पर वे शीघ्र समझते हैं और अधिक अच्छे धार्मिक बनते हैं। इसलिये इन्हीं के लिए धार्मिक कक्षा, शिविर, प्रतियोगिताएँ, प्रश्नमंच,

सामूहिक पूजन आदि धार्मिक कार्यक्रम होना चाहिए। इन्हीं से सप्तव्यसनादि त्यागकर साधुओं को आहार लेना चाहिए। उन्हीं को प्रोत्साहित करने के लिए धार्मिक साहित्यादि पुरस्कार में देना चाहिए। उन्हें यथायोग्य धार्मिक अधिकार देना चाहिए। मेरा सुदीर्घ प्रायोगिक अनुभव रहा है कि उपर्युक्त कार्यक्रम से प्रभावना गहरी, व्यापक, स्थिर एवं प्रभावोत्पादक होती है। साधुओं का प्रवचन स्कूल, कॉलेज, जेल, पुलिस सेन्टर, सार्वजनिक स्थल आदि में होना चाहिए। जैनधर्म के साहित्य का वितरण होना चाहिए। जैनधर्म संबंधी वैज्ञानिक संगोष्ठी आदि का आयोजन करके धर्म की वैज्ञानिकता को उजागर करना चाहिए। जैन धर्म के विभिन्न पहलुओं को लेकर शोध-बोध होना चाहिये। महाभारत, रामायण, सीरियल के समान जैनधर्म की भी सीरियल बनाकर उसका प्रसार-प्रचार करना चाहिए। विश्वविद्यालयों में जैन दर्शन का पाठ्यक्रम प्रारंभ करना चाहिए। इसी प्रकार और भी गरीबों की, रोगियों की, अपंगों की, विपत्तिग्रस्तों की सहायता, सेवा करनी चाहिए। इससे अन्य लोग भी जैनधर्म की महानता स्वीकार करेंगे, जैन धर्म को परोपकारी धर्म मानेंगे तथा जैनधर्म को विश्वधर्म रूप में स्वीकार करेगें।

जीवनोपयोगी दोहा द्वादश - आचार्य श्री कनकनन्दी

पर के हित में होता है स्व-हित स्वयं हित जग हित।
परस्पर अनुगृहित हैं विश्व स्वयं-स्वयं सत्ता युक्त।।10।।

***

अन्तर पवित्र बाह्य शुचियुक्त मङ्गलमय है सदा।
समता भाव से होता है स्वस्थ्य तन-मन-आत्म मुदा ।।11।।

***

पवित्र भाव में निवास है, सदा ईश्वर व मोक्षधाम।
अपवित्र भाव जहाँ है वहाँ है नरक व दुःखधाम ।।12।।

अध्याय -8

उपगूहन-स्थितिकरण-वात्सल्य

संगठन की कमी

विश्व में रचनात्मक कार्य करने के लिए अधिक समय धन-मन-तन एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। विध्वंशात्मक कार्य करने के लिये अधिक समय विवेक की आवश्यकता नहीं होती है। जैसेः- जापान के हिरोसीमा एवं नागाशाकी नगर बनाने के लिए अनेक श्रमिक, शिल्पी, इंजिनियर, धन, बुद्धि, समय की आवश्यकता हुई थी। परन्तु विध्वंस करने के लिए कुछ ही क्षण लगे। अभी उसके पुनः निर्माण में अनेक समय, धन, जन की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार किसी भी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, राष्ट्र, संगठन का निर्माण श्रम साध्य होता है किन्तु विघटन कम समय में हो जाता है। इसीलिये कहते हैं रोम का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ था। एक बच्चे का पालन पोषण एवं बड़ा करना समय सापेक्ष एवं कष्ट साध्य है किन्तु उसको मारना सरल है।

मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि यदि वह दूसरे का उपकार नहीं करता है तो अपकार भी न करे। भिखारी को भीख नहीं देना है तो कोई अधिक दोष नहीं है किन्तु भिखारी को गाली देना, अपमान करना बहुत बड़ा दोष है। दूसरों को अमृत नहीं पिला सकते हो तो विष पिलाना भी छोड़ दो। अनेक व्यक्तिकलहप्रिय, नारद, मन्थरा एवं शकुनि जैसे होते हैं। दूसरों के बीच फूट डालकर कलह करा कर आनंदित होते हैं। जो फूट डालने वाले एवं कलह करवाने वाले होते हैं वे असुर कुमार या नारकी होने वाले हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है-

विरोधिता साधु जनस्य लोके सरोगत्ता मूर्ख जन प्रसंगः।
अतीव रोषः कटुका च वाणी। नरस्य चिह्नं नरकागतस्य।।

साधुजन का जो विरोध करते हैं और मूखर्जन का सहवास करते हैं, अधिक क्रोध करते हैं, कटु वाणी बोलते हैं-यह सब नरक से आने के चिन्ह हैं। अर्थात् जो नरक से निकलकर मनुष्य हुआ है या मरकर नारकी होनेवाला है उन्हीं में ही इस प्रकार का स्वभाव पाया जाता है।

खुद्धी कोहि माणी मायी तह संकिलिट्ठे तवे चरिते च।
अणुबुद्ध वेस्सेई असुरे सूववज्जदे जीवो।। (68)
(मूलाचार द्वितीय अध्या.)

जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान कषायी है, मायाचार प्रकृति रखता है तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामों में संक्लेश भाव बना रहता है अर्थात् परिणामों में निर्मलता नहीं रहती जो अनन्तानुबंधी रूप वैर को बांधने में रूचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरंग में ग्रन्थि के समान वैरभाव बाँधकर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओं के द्वारा असुर जाति में अन्तर्भेद रूप नारकियों को परस्पर में पूर्व-भव के बैर का स्मरण दिला दिलाकर लड़ाया करते हैं और उन्हें लड़ते-भिड़ते दुःखी होते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं।

जो यथार्थ से धर्मात्मा होता है वह गुणग्राही होता है, परन्तु कुछ ढोंगी धर्मात्मा गुणियों को देखकर घृणा एवं ईर्ष्या करते हैं। नीतिकारों ने कहा भी हैं-

निर्गुणः गुणं न वेत्ति गुणी गुणिषु च मत्सरा।
गुणी च गुणिषु रागी च सरला विरला जनाः।।

जो निर्गुण होते हैं वे गुणों को नहीं पहचानते हैं। इसलिये वे गुणों का आदर नहीं करते हैं। परन्तु इर्ष्यालु गुणी व्यक्ति होते हैं वे गुणी को देखकर दाह करते हैं। जैसे एक गली के कुत्ते दूसरी गली के कुत्ते को देखकर भौंकते हैं एवं काटते हैं। जो यथार्थ गुणी होकर सरलरूप से दूसरे गुणी के प्रति आदर सत्कार प्रेमभाव रखते हैं ऐसे व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

उपगूहन अंग

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्।। (15)
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

स्वभाव से निर्मल रत्नत्रय मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ मनुष्यों के आश्रय से होनेवाली निन्दा को जो प्रमार्जित करते हैं-दूर करते हैं उनके उस

प्रमार्जन को उपगूहन गुण कहते हैं।

धर्मोऽभिवर्द्धनीय सदात्मनो मार्दवादि भावनया।
परदोष निगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम्।। (27)
(पुरुषार्थ सिद्धि.)

उपबृंहण नामक गुण के लिये मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से निरन्तर अपने आत्मा के धर्म की अर्थात् शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को वस्तु स्वरूप का परिज्ञान होने के कारण वह स्वदोष का परीक्षण-निरीक्षण करके स्वदोष को हटाता है एवं आत्म धर्म की वृद्धि करता है। वह गुणग्राही होने के कारण दूसरों के दोषों को देखता हुआ एवं जानता हुआ भी वह दोषों को दूसरों के सामने प्रकट नहीं करता है। वह जानता है कि पूर्व-कर्म के कारण दोष नहीं करना चाहते हुये भी धर्मात्मा से दोष हो जाते हैं। वह सोचता है कि मेरे अनेक दोषों से बचने की कोशिश करने पर भी मुझसे अनेक दोष हो जाते हैं। इसी प्रकर छद्मस्थ अवस्था में परिणत दिशा में कर्म की प्रबलता से दोषों का होना स्वाभाविक है। दूसरे धर्मात्माओं का दोष सबके सामने प्रकट करने से धर्मात्मा के अपमान के साथ-साथ धर्म का भी अपमान होता है तथा दोष एवं वैरत्व भाव होने के कारण विघटन कलह आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं इससे पर भव में नीचता, दीनता, अपमान के योग्य नीच गोत्र का भी बन्ध होता है। यथा-

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सद्सद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य"। (25)
(तत्त्वार्थ सूत्र)

दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों का छादन तथा अपने अविद्यमान गुणों का उद्भावन करना ये सब नीच गोत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं। सम्यग्दृष्टि कर्म की गतिविधि को जानने के लिये कारण वह ऐसा कर्म नहीं करता है जो मोक्ष मार्ग के लिये प्रतिबन्धक स्वरूप हो। इसलिये वह स्वनिन्दा करता है और दूसरों के गुणों के प्रति अनुराग रखता है। इससे मान-सम्मान के साथ-साथ आत्म-कल्याण के

निमित्तभूत उच्च गोत्र का बन्ध करता है। यथा-

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।। (26) (तत्वार्थसूत्र षष्ठोध्याय)

नीच गोत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारण आत्म-निन्दा, पर-प्रशंसा, परसद्गुणोद्भावन, आत्मसद्गुण आच्छादन, गुणीजनों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति, अहंकार का अभाव तथा अनुत्सेक अथवा उद्दण्ड स्वभाव नहीं रखना ये सब उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

स्थितिकरण अंग-

कामक्रोधदादिषु चलयितुमुदिदतेषु वर्त्मनो न्यायत्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।। (28)
(पुरुषार्थ सिद्धि)

काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार न्याय मार्ग से अर्थात् धर्म मार्ग से विचलित करवाने के लिए प्रगट हुआ हो तब शास्त्र अनुसार अपनी और पर की स्थिरता भी करता चाहिये।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा धर्म एवं न्याय मार्ग में सतत दृढ़ रहकर आगे बढ़ने की कोशिश करना है, तो भी कर्म उदय से कभी कभी विचलित भी हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तंभावयन्नपि।
पूर्व विभ्रमसंस्कराद् भाति भूयोऽपिगच्छति।। (15)
(समाधिशतक)

अन्तरात्मा आत्म तत्त्व को जानता हुआ भी तथा शरीर से भिन्न आत्मा की भावना करता हुआ भी मानता हुआ फिर भी पुराने बहिरात्मा अवस्था के मिथ्या संस्कार से शरीर को आत्मा समझ लेने का भ्रम कर बैठता है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास, पुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि फूट, कलह, युद्ध के कारण अनेक समय में दूसरों के दुर्गुण को प्रकट करना या दूसरों की निन्दा करना है। जैसे महाभारत से ज्ञात होता है कि द्रोपदी दुर्योधन की निन्दा करते हुए बोली थी कि "अन्धे के बेटे अन्धे होते हैं।"

इस वाक् बाण से बिद्ध होकर दुर्योधन के हृदय में महाभारत का बीजारोपण हुआ था। वह बीज़ समय को प्राप्त करके अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर महाभारत रूपी फल रूप में परिणत हुआ। इसलिये प्रेम, संगठन आदि के इच्छुक व्यक्ति दूसरों की निन्दा न करें, दूसरों के दुर्गुण प्रकट न करें।

वात्सल्य अंग-

अनवतरमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धेन धर्मे।

सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परम वात्सल्यामालभ्यम्।। (29)

(पुरुषार्थ सिद्धि)

मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारण भूत धर्म में अहिंसा में और सभी साधर्मीजनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य अथवा प्रीति का आलम्बन करना चाहिए।

स्वयथ्यानप्रति सभ्दावसनाथापेतकेतवा।

प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यममिल्पते।। (17) (रत्नकरण्ड श्रा.)

अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति अच्छे भावों से सहित और माया से रहित उनकी योग्यता के अनुसार आदर-सत्कार आदि करना वात्सल्य गुण कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य भाव गोंद या रस्सी का काम करता है। उसी प्रकार धर्मात्मता का वात्सल्य गुण दूसरों को प्रेम भाव से संगठित करके बाँधता है। यह वात्सल्य भाव सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से अन्तरंग से उद्भूत होता है। इसको कोई भी भौतिक वैभव से प्राप्त नहीं कर सकता है। कबीर ने एक दोहे में कहा है-

प्रेम न बाड़ी उपजे प्रेम न हाट बिकाय।

राजा प्रजा जेहि रुचे शीस देइ ले जाय।

यह प्रेम न बगीचे में उत्पन्न होता है न बाजार में प्राप्त होता है। राजा हो या प्रजा, जिसे प्रेम चाहिये, प्रेम के लिये सिर देकर भी प्राप्त कर लेना चाहिए। किसी के भी कारणवश! प्रेम रूपी डोरी को बल पूर्वक नहीं तोड़ना चाहिये।

कहा भी है-

"रहिमन धागा प्रेम का मत तोडो चिटकाय।

टूटे से फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ पड़ जाय।।"

रहिमन कवि कहते हैं कि प्रेम रूपी डोरी को जबरदस्ती नहीं तोड़ना चाहिए, टूटने पर फिर नहीं मिलती है और मिलने पर भी गाँठ पड़ जाती है।

आज भाई-भाई, धर्मात्मा-धर्मात्मा, नेता-नेता, साधु-साधु थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर झगड़ा, कलह, वाद-विवाद करके फूट डाल देते हैं और उस फूट के कारण आज परिवार धर्म, राष्ट्र, देश आदि बरबाद हो रहे हैं। लोकोक्ति है -

खेत में फूट होवे तो सब कोई खावै।

घर में फूट होवे तो घर ढह जावै।

इस फूट के कारण ही प्रसिद्ध ग्रीक सभ्यता नाम शेष रह गयी। अत्यन्त धनी, मानी, समृद्ध, शक्तिशाली भारतवर्ष भी अनेक वर्ष तक पराधीनता की जंजीर पहने रहा। धर्म के नाम पर विभिन्न देश काल में नर, धन, सभ्यता-संस्कृति, मंदिरों का विध्वंश हुआ। अभी भी साम्प्रदायिकता, भाषागत, राजनैतिक, प्रान्तगत कलह, आतंकवाद युद्ध चल रहा है। वात्सल्य शब्द का अर्थ है कि गाय जैसे बछड़े के प्रति निःस्वार्थ भाव से प्रेम करती है, पालन पोषण करती है उसी प्रकार धर्मात्मा के प्रति निःस्वार्थ भाव से प्रेम, प्रीति तथा संरक्षण करना। बछड़ें की प्रीति से गाय सिंहनी के सम्मुख चली जाती है और विचार करती है कि यदि मेरा भक्षण हो जाय और बछड़े की रक्षा हो जाय तो अत्युत्तम है। ऐसी प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिए। जो तन-मन-धन सर्वस्व खर्च करके अपनी प्रीति को पा लें।

सम्यक् प्रकार से पृथक्-पृथक् या सर्व रूप से भावित ये षोडशकारण भावनायें तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव का कारण होती हैं। वात्सल्य भाव से धर्म एवं धर्मात्मा के प्रति प्रेम प्रगट होता है। संगठन बढ़ता है, आत्म विशुद्धि होती है, कर्म निर्जरा होती है। इसके साथ-साथ तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है, जिससे यह जीव

आगे जाकर तीन लोक के भव्यों के लिए अनिमित्तिक बन्धु स्वरूप बनता है। जो जीव सम्पूर्ण जीवों के कल्याण के लिए षोडश कारण स्वरूप मैत्री भावना भाता है वही जीव आगे जाकर तीर्थंकर बनता है। उस पूर्व भव से भावित प्रेम, मैत्री, वात्सल्य भाव के कारण ही तो तीर्थंकर की विशाल विश्वधर्म सभा (समोशरण) में जन्मजात-विरोधी मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी एक साथ बैठकर वात्सल्य भाव से धर्मामृत का पान करते हैं।

जैनाचार्यों ने वात्सल्य भाव के चरमोत्कृष्ट स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा है-

जीव जिणवर जे मुणहिं जिणवर जीव मुणेहिं।

ते सम भाव परट्ठिया लघुणिव्वाणं लहेई।

जो जीव को जिनवर मानता है एवं जिनवर को जीव मानता है ऐसे सम्यग्दृष्टि साम्य भाव को रखने वाला जीव शीघ्रतिशीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इसमें आचार्य श्री ने कहा है कि धर्मात्मा जिनेन्द्र के प्रति जैसा आदर भाव रखता है उसी प्रकार अन्य जीव के प्रति आदर भाव रखकर के उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। द्वेष एवं घृणा नहीं करनी चाहिए। जैसे स्वयं को प्रेम, आदर सत्कार, मान-सम्मान बहुमान वात्सल्य चाहिए उसी प्रकार अन्य को भी उसकी आवश्यकता है। इसलिए जो स्वयं के लिए चाहिए वही दूसरे के लिए वितरण करना चाहेगा। वह व्यवहार दूसरों के साथ भी करें। कहा भी है-

जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छसि अप्पणतो।

तं इच्छ परस्य वि या एतियंग जिण सासणं।।

जो स्वयं के लिये चाहते हो और जो अपने लिये नहीं चाहते हो वही, दूसरों के लिये भी चाहो यह जिन शासन का सार है।

इसी प्रकार उपरोक्तसम्पूर्ण अंग को लेकर धर्मात्मा से प्रेम, आदर करना चाहिये। आज विशेषकर जैन धर्मावलम्बियों में इस गुण की कमी होने के कारण भाई-भाई में, साधु-साधु में, घर-घर में, समाज-समाज में शीत युद्ध चल रहा है। रोगी जिस समय में जिस रोग से पीड़ित रहता है उसके निवारण के लिये उसके योग्य औषधि की आवश्यता होती है। इसी प्रकार

आज जैन धर्मावलम्बी अवात्सल्य रूपी द्वेष, घृणा, तिरस्कार, फूट, कलह, वाद-विवाद रूप रोग से ग्रसित हैं। इसलिये इस अवात्सल्य रूप रोग को दूर करने के लिये एकमेव अचूक रामबाण औषधि वात्सल्य भाव है। आज जैन धर्मावलम्बी वात्सल्य रुपी अमृत का पान करके स्वस्थ, निरोगी, सुदृढ़, उन्नत, प्रगतिशील बनने के लिए आगे बढ़ें। वर्तमान के जैन धर्मावलम्बी आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होते हुए भी संगठन के अभाव में विशेष रचनात्मक कार्य करके विश्व के सम्मुख स्वयं को प्रस्तुत करने के लिए असमर्थ हो रहे हैं। जैनियों को मुसलमान धर्म में जो संगठन, भाईचारा एवं अपने धर्म के प्रति समर्पित भाव है उसका अनुकरण, अनुसरण करना चाहिये। कर्नाटक प्रदेश के अजैन बन्धु जैनियों को उलाहना देकर कहते हैं-''डोम लोग नहीं मिलेगें नष्ट हो जायेंगे, जैन लोग मिलने पर नष्ट हो जायेगें।'' अर्थात् डोम लोग नहीं मिलेगें तो खेल नहीं दिखा सकते जिससे जीवन यापन ठीक से नहीं चल सकता है और जैन लोग एक साथ मिलने पर कलह झगड़ा करने लगते हैं। उत्तर भारत के अजैन बन्धु भी इसी प्रकार एक उलाहना देते हैं कि ''जैनी होकर छैनी बन रहे हैं।'' अर्थात् छैनी पत्थर आदि को तोड़ती है उसी प्रकार जैनी लोग परस्पर को तोड़ते हैं। इसलिए आचार्य विमलसागरजी महाराज कहते हैं कि **''धर्मात्माओं को कैंची नहीं बनना चाहिये सूई बनना चाहिए।'' इस वात्सल्य भाव में संगठित भाव पूर्णरूप से निहित हैं। इसलिये जैनियों को आज संगठित होकर कंधे से कंधा मिलाकर विश्व के सामने कुछ आदर्श प्रस्तुत करने के लिये आगे बढ़ना चाहिए। चन्द्रगुप्त मौर्य के स्वप्न में एक स्वप्न था, जिसमें दो छोटे बछड़े एक रथ को वहन करके ले जा रहे हैं। इसका भविष्यत फल श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी ने कहा था कि इस पंचम काल में नवयुवक-नवयुवतियाँ ही धर्मरुपी रथ को वहन करके आगे गतिशील बनायेंगी। इसीलिये मेरा भी आह्वान है कि हे! नवयुवक-नवयुवतियों! उठो, जागो अपना कर्त्तव्य संभालो। गिरते हुये धर्म रूपी रथ को आगे अपने सुदृढ़ कन्धे में धारण करके उसको सच्चे धर्म के मार्ग पर गतिशील बनाओ। प्राचीन रोग के समान कलह-फूट वाद-विवाद को वात्सल्य रूपी अचूक औषधि से दूर करके निरोगी, स्वस्थ, सबल, सुदृढ़, गतिशील बनाओ। वंशजों की जलती हुई झोपड़ी में पुरुषार्थ**

हीन होकर देखते देखते तुम भी मत जलो। उस झोपड़ी के लोभ से तुम्हारी भी इति श्री हो जायेगी। उस मोह को छोड़कर उस जलती हुई झोपड़ी से निकलकर सुरम्य गगनचुम्बी शीतल सुखप्रद वात्सल्य रुपी प्रासाद का निर्माण करके सुख से निवास करो। आज देश विदेश में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्र में प्रेम की डोरी से बंधकर अनेक राष्ट्रीय अर्न्तराष्ट्रीय संस्था, समिति, संघ बन रहे हैं। तो क्या मुष्ठीमय जैन धर्मावलम्बियों के मध्य में संगठन नहीं हो सकता है? अवश्य हो सकता है। मनुष्यों के लिए असम्भव नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। संगठन का बीज वात्सल्य में निहित है। इसलिये वात्सल्य को अपनी हृदय रूपी उपजाऊ जमीन में डालकर गुणग्राही, उपगूहन स्थितिकरण आदि जल, स्वाद, रश्मि से उसको अंकुरित पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करो। आज जैन धर्मावलम्बियों में संगठन के नाम पर अनेक संस्था, समिति, सभा, मिलन होते हुये भी वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाये या अपने लक्ष्य से विपरीत गमन कर रहे हैं इसलिये यह संगठन आदि रचनात्मक कार्य के साथ-साथ विध्वंसात्मक कार्य करके सुख्यात एवं कुख्यात हो रहे हैं। कुख्यात होने के कारण संकुचित मनोभाव, वात्सल्य भाव से रहित, निहित स्वार्थनिष्ठ। मतवाद, पंथवाद, जातिवाद कुर्सीवाद, अर्थवाद, दलवाद (पार्टीबाजी) आदि है। संगठन के लिये ये सब विरोधात्मक कारण हैं। इसलिये इन विरोधी कारणों को हटाने उपर्युक्त कार्य से अत्यन्त सरल एवं सहज साध्य है।

जिस धर्म में नीति-नियम-विनय, सदाचार, ब्रह्मचर्य, क्षमा, ऋजुता (सरलता), नम्रता आदि सुशील हैं, वह धर्म-सत्य धर्म है।

जब कभी भी समाज खंडित हुआ है तो उसे पूरा करने के लिये किसी सरकार या राजा ने प्रयास नहीं किये। वे प्रयास केवल वाणी के योद्धाओं (विचारकों) ने किये और सफल भी हुये। (हरीश भादानी)

अध्याय -9

व्रत-नियम-तपस्या की कठोरता

अशक्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम्।
जैनं निरसंगता मुख्यं रूपं धीरैः निषेव्यते।।

जिसमें यथाजात रूप अन्तरंग-बहिरंग ग्रन्थ रहितता मुख्य है ऐसा निर्ग्रंथ लिंग जो कि दुर्धर, दुरासाध्य, अत्यन्त कठिन रूप है, उसको कातर, कायर मन एवं इन्द्रियों के दास, भोगों के कीड़ों के द्वारा धारण करना अत्यन्त अशक्य है। जो धीर, वीर, गंभीर, संयमी होते हैं उनके द्वारा ही निर्ग्रन्थ लिंग धारण किया जा सकता है। जैसे-चक्रवर्ती के चक्र को कायर पुरुष प्रयोग नहीं कर सकता है, केवल वीर पुरुष पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकता है। उसी प्रकार इस निर्ग्रन्थ रूप को धीर, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकते हैं।

''अन्तर विषय वासना वरतैं बाहर लोक लाज भय भारी।
यातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहीं सकै दीन संसारी।।
ऐसे दुर्द्धर नगन परिषह जीतै साधु शील व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी।।'' (17)

दिगम्बर जैन साधु केवल नग्नत्व रूप एक व्रत के धारी नहीं होते हैं। यह नग्नत्व व्रत 28 व्रतों में से केवल एक व्रत है। इस व्रत के समान या इससे भी अधिक कठिन और भी 28 व्रत पालन करते हैं। इन्हें 28 मूलगुण कहते हैं। यथा-

वदसमिदिंदियरोधो लोचावासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।। (209)
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता। (1/2, 209)

सर्व सावद्य योग के प्रत्याख्यान स्वरूप एक महाव्रत है उसके विशेष अथवा भेद हिंसा, अस्तेय, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरूप पांच महाव्रत तथा उसी का परिकरभूत पांच प्रकार की समिति, पांच प्रकार का इन्द्रियरोध, लोच, छः प्रकार के आवश्यक, अचेलकत्व (नग्नता),

अस्नान भूमिशयन, अदंतधावन (दातुन न करना) खड़े खड़े भोजन करना और एक बार आहार लेना इस प्रकार यह (अट्ठाईस) एक अभेद सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं।

(प्रवचन सार पृ. 740, 742)

दिगम्बर जैन साधु लज्जा निवारण के लिए या सर्दी, गर्मी, मच्छरादि विषाक्त कीट पंतगादि से रक्षा के लिए भी वस्त्र धारण नहीं करते हैं। भयंकर भूख, प्यास लगने पर भी न बनाकर भोजन पान करते हैं। न मांग करते हैं। इतना ही नहीं दिन में एक बार ही भोजन पान करते हैं। उसमें भी 32 अन्तरायों को टालकर। इसलिये कभी-कभी लगातार अनेक दिन तक अन्तराय हो जाता है। अन्तराय कभी भोजन के मध्य में तो कभी पहले भी हो जाता है। अन्तराय के बाद पानी/औषधि तक भक्षण नहीं करते भले भयंकर गर्मी पड़ती हो, विहार करना हो या भयंकर रोग भी क्यों न हो। नंगे पैर से ही विहार करते हैं। भले रास्ते में काँटा, पत्थर, कंकरादि क्यों न हो या विहार करते-करते पैर से खून तक क्यों न बहता हो। 2 या 3 या 4 महीनों में दाड़ी मूँछ और सिर के बाल हाथों से उखाड़ना पड़ता है जिसे केश लोंचन कहते हैं। इससे शारीरिक पीड़ा तो होती है परन्तु आत्म कल्याण के लिए समता से सहन करते हैं। केशलोंच के दिन अवश्य उपवास भी रखना होता है। इसी प्रकार उन्हें 22 परिषह (कष्ट) एवं 4 प्रकार के उपसर्ग सहन करना पड़ते हैं। यह सब पालन, धारण, सहन करने वाले साधुओं का भी अनादर, तिरस्कार अनेक स्वयं को सच्चा जैनी, सम्यग्दृष्टि, मुमुक्षु, ज्ञानी, ध्यानी, धर्मात्मा मानने वाले, मनवाने वाले और जताने वाले करते हैं। साधुओं की समुचित व्यवस्था, सेवा आहार चर्या, चिकित्सा आदि भी नहीं हो पाती है जिससे कठिन व्रत भी और भी कठिनतर, कठिनतम हो जाते हैं। कभी कभी परिस्थितिवश उत्सर्ग अपवादमार्ग के अनुसार भी साधु चर्या करते हैं तो जो सतत राग-द्वेष, काम, क्रोध, परिग्रह, व्यसन, भोग, विलासिता में लीन रहते हैं वे भी साधु की निन्दा करेंगे। इतना ही नहीं जो साधुओं की सेवा, भक्तिकरते हैं उनकी भी निन्दा करेंगे, उन्हें सेवा करने से मना करेगें, दूसरों को भड़कायेंगे। इससे वातावरण और भी प्रदूषित, तनावपूर्ण, विषाक्तहो जाता है।

दिगम्बर जैन साधुओं के व्रत जितने कठिन होते हैं उसके अनुपात से श्रावकों के व्रत सरल हैं। तथापि अन्य धर्मावलम्बियों से कुछ कठिन हैं। शक्ति के अनुसार यदि श्रावक व्रत (प्रतिमा) पालन करता है तो कोई कठिनाईयाँ नजर नहीं आती है। पंच अणुव्रत पालन करना, सप्त व्यसन त्याग करना स्वयं अनेक सामाजिक कानूनी स्वास्थ्य सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना है। रात्रि भोजन त्याग, पानी छानकर सेवन करना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है। जो दुर्बल भाव वाले, व्यसनी-भोगी, विलास प्रिय, धर्मश्रद्धा से रहित हैं उनके लिए अवश्य कठिन प्रतीत होता है अथवा जो अपनी शक्ति, परिस्थिति को न देखकर दिखावे के लिए अक्रम से व्रत प्रतिमा लेते हैं उसके लिए अवश्य कठिन हो सकता है।

जो लोगों को अनुरंजित करने वाली पाप क्रियाओं से मन्त्र-तन्त्रादि के प्रयोग से अपने को महान् समझते हैं, जिनका अन्तः करण निज में अध्यात्म में अनुरक्त नहीं हुआ है, जो इन्द्रियों के विषय रूप वन में विचरण करते हैं, जिन्होंने मन के भीतर से शल्य को - माया, व्यवहार, मिथ्यात्व एवं भोगाकांक्षा को दूर नहीं किया है, जिन्होंने आत्मा के स्वरूप का निश्चय नहीं किया है तथा जिन्होंने दुष्ट भावलेश्या को, अशुभलेश्या को नष्ट नहीं किया है, वे ध्यान की सिद्धि में निषिद्ध हैं- वे ध्यान के अधिकारी नहीं हैं।

(लेखक की कृति-'ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण' से)

* विद्वान्-चिंतक युग-विशेष का प्रतिनिधि होता है। **(एमर्सन)**
* विचारकों के लिये दुनिया सुखांत है और हृदय वालों के लिये दुखान्त। **(होरे वालपोल)**
* वह सबसे ज्यादा जीवित रहता है जो सबसे ज्यादा सोचता है, उच्चतम भावनाएं रखता है और सर्वोत्तम रीति से कार्य करता है। **(बेली)**

अध्याय -10

उत्तम उपलब्धि की दुर्लभता

शैल शैले न मणिक्यं मौक्तिकं न गजे-गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चंदनं न वने वने।।

माणिक्य प्रत्येक पर्वत पर प्राप्त नहीं होता है। प्रत्येक हस्ती के मस्तक पर मुक्तामणि की प्राप्ति नहीं होती है। प्रत्येक वन में चंदन की उपलब्धि नहीं होती है। उसी प्रकार साधु सर्वत्र प्राप्त नहीं होते हैं।

विश्व में उत्तम, उत्तमत्तर, उत्तमतम वस्तु, गुण, व्यक्तियों की उपलब्धि उत्तरोत्तर दुर्लभ होती है। अनन्त काल से अनन्त जीव अनन्त कर्मों के लेप के कारण संसार रूपी अनन्त गहरे समुद्र में डूबे हुए रहते हैं। यह कर्म रूपी लेप अत्यन्त दृढ़ होने के कारण इसका छूटना अत्यन्त कष्ट साध्य होता है। जितने-जितने अंश में कर्म लेप गलन होता है, विलग होता है उतने उतने अंश में जीव हल्का होता जाता है और वह धीरे-धीरे नीचे से ऊपर उठता जाता है, उसका उतने-उतने अशं में विकास होता जाता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त मन्द होती है। इसलिये विकासशील तथा विकसित जीव उत्तरोत्तर दुर्लभ होते जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है-

बुरा है अन्त जिसका ऐसे पाप रूपी वैरी से निरन्तर पीड़ित इस जीव का प्रथम तो नरकों के नीचे निगोद स्थान है, सो वहाँ के नित्य निगोद से निकलना अत्यन्त कठिन है। उस नित्य निगोद से निकला तो फिर पृथ्वी कायादि स्थावर जीवों में उपजता है और किसी पुण्यकर्म के उदय से स्थावर काय से त्रसगति पाता है और कदाचित् त्रसगति भी पावे तो तिर्यंच योनि में पर्याप्तता (पूर्णावयव संयुक्तत्व) पाना कुछ न्यून पाप के क्षय से नहीं होता है अर्थात् बहुत पाप के क्षय होने पर पाता है। उसमें भी मन सहित पंचेन्द्रिय पशु का शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है। तिस पर भी संपूर्ण अवयव पाना अतिशय दुर्लभ है। आचार्य महाराज कहते हैं कि ये प्राणीगण संसार में मनुष्यपन और उसमें गुण सहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुल आदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मों के क्षय से पाते हैं। ये बहुत दुर्लभ है। जीवों के देश जाति, कुलादि सहित मनुष्यपना होने पर भी दीर्घायु, पांचों इन्द्रियों

की पूर्ण सामग्री, विशिष्ट तथा उत्तम बुद्धि, शीतल मंद कषाय रूप परिणामों का होना काकतालीय न्याय के समान दुर्लभ जानना चाहिए। जैसे किसी समय ताल का फल पककर गिरे और उसी समय काक का आना हो एवं उस फल को आकाश में ही पाकर खाने लगे ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् पुण्य के योग से उक्तसामग्री प्राप्त हो जाये तो विषयों से विरक्तया व्रतरूप परिणाम तथा यम, प्रशमरूप शुद्ध भावों सहित चित्त का होना बड़ा कठिन है। कदाचित् पुण्य के योगों से इनकी प्राप्ति हो जाये तो तत्त्व-निर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है तथापि यदि दैव-योग से प्राप्त हो जाये तो अनेक संसारी जीव प्रमाद के वशीभूत हो, काम और अर्थ में लुब्ध होकर सम्यग्मार्ग से च्युत हो जाते हैं और विषय-कषाय में लग जाते हैं। कोई-कोई सम्यक् रत्नत्रय मार्ग को पा कर भी तीव्र मिथ्यात्व रूप विष से व्यामूढ़ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड़ देते हैं। गृहीत मिथ्यात्व बड़ा बलवान् है जो उत्तम मार्ग मिले तो उसको भी छुड़ा देता है। कोई-कोई तो सम्यक् मार्ग से आप ही नष्ट हो जाते हैं। कोई अन्य मार्ग से च्युत हुए मनुष्यों के द्वारा नष्ट किये जाते हैं। कोई प्रचंड पाखण्डियों के उपदेश हुए मतों को देखकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं। जो मार्ग से च्युत अज्ञानी है, वह समस्त मनोवांछित सिद्धि के देने वाले विवेकरूपी चिन्तामणि रत्न को छोड़कर बिना विचार के रमणीक भासने वाले पक्षों में (मतों में) प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। जो पुरूष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियों से दण्डित हैं वे अविचार से रमणीक भासने वाले दुष्टों के चलाए हुए अधम मतों का भी सेवन करते हैं। विषय-कषाय क्या-क्या अनर्थ नहीं करते। यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरित्र स्वरूप रत्नत्रय है। संसार रूपी समुद्र में प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यन्त दुर्लभ्य है। इसको पाकर भी जो खो बैठता है, जो उनको हाथ में रखे हुए रत्न को बड़े समुद्र में डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रय का पाना दुर्लभ है।

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातंजगत्या
मुरगसुरनेन्द्रैः प्रार्थितंचाधिपत्यम्।

कुलबलसुभागत्वोद्दमरामादिचान्यत्।। (13)
किमुत तदिदमेकं दुर्लभबोधरत्नम्।

इस जगत् में (त्रैलोक में) समस्त द्रव्यों का समूह सुलभ है तथा धरणीन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है। क्योंकि ये सब ही कर्मों के उदय से मिलते हैं। उत्तमकुल-बल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं किन्तु जगत् प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र बोधिरत्न अत्यन्त दुर्लभ है।

विश्व में अनन्तान्त जीव हैं। इसमें से वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव सब से अधिक अर्थात् अनन्तानन्त हैं। द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव केवल असंख्यातासंख्यात हैं। इसमें से पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव असंख्यात हैं। पंचेन्द्रिय के देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य रूप में 4 भेद हैं। मनुष्यों में भी पर्याप्त मनुष्यों की संख्या 29 अंक प्रमाण = 7,9228162, 5142643, 3759354, 3950336 अर्थात् सात कोटि कोटि कोटाकोटी बानवे लाख अट्ठाईस हजार एक सौ बासठ, कोटीकोटी, कोटि इक्यावन लाख बयालीस हजार छह सौ तैंतालीस कोटि कोटि, सैंतीस लाख उनसठ हजार तीन सौ चौवन कोटि, उनतालीस लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस हैं। इसमें से सच्चे धार्मिक भी बहुत कम है। इस सम्बन्धी कुछ विशेष परिज्ञान के लिए नीचे कुछ वर्णन दे रहें हैं-

संक्षेप में ऐकेन्द्रियादि जीवों की संख्या -

थावरसंखपिपीलियभमरमणुस्सादिगा सभेदा जे।
जुगवारमसंखेज्जाणंताणांताणिगोदभवा।। (175)

गाथार्थ :- स्थावर काय (साधारण वनस्पति के अतिरिक्त) शंख (द्वीन्द्रिय) पिपीलिका (त्रीन्द्रिय), भ्रमर (चतुरन्द्रिय) और मनुष्यादि (पंचेन्द्रिय) ये सब पृथक्-पृथक् अपने-अपने उत्तरभेदों सहित द्विवार असंख्यात अर्थात् असंख्यातासंख्यात हैं। निगोदिया अर्थात् साधारण वनस्पति अनन्तानन्त है।

विशेषार्थ :- स्थावर अर्थात् निगोदिया जीवों के अतिरिक्त समस्त एकेन्द्रिय जीव अपने भेद प्रतिभेद सहित अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक,

अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं। निगोदिया जीवों का पृथक् कथन किया गया है इसीलिये स्थावरों में निगोद में ग्रहण नहीं किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों में उत्कृष्ट अवगाहना शंख की है। अतः शंख कहने से समस्त द्वीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। सर्व परिचित त्रीन्द्रिय जीव चींटी (पिपीलिका) है। अतः पिपीलिका कहने से समस्त त्रीन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। चतुरिन्द्रिय जीवों में भ्रमर की उत्कृष्ट अवगाहना है अतः भ्रमर कहने से समस्त चतुरिन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है। पंचेन्द्रियों में मनुष्य की प्रधानता है क्योंकि मनुष्य गति में ही जीव संयम के द्वारा कर्मबन्धन को काटकर मुक्तिप्राप्त कर सकता है। अतः मनुष्यादि कहने से चारों गतियों के समस्त पंचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण हो जाता है (जुगवार असंख्यात कहने से असंख्यातासंख्यात का ग्रहण होता है क्योंकि असंख्यातासंख्यात में असंख्यात शब्द का दो बार प्रयोग होता है।)

एकेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव, एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त जीव, एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त जीव इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों की नौ राशियाँ द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं, क्योंकि निगोदिया जीव में भी एकेन्द्रिय है। एकेन्द्रिय जीवों में पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा भागाभाग-

तसहीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा।
पुण्णाणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णणाणं।। (176)
बादरसुहमा तेसिं पुण्णाणापुण्णेत्ति छव्विहाणंपि।
तक्कायमयग्गरणाये भरिगज्जमारगक्कमो णेयो।। (177)

गाथार्थ :- त्रस जीव राशि से हीन संसारी जीव राशि एकेन्द्रिय जीव है। उसका संख्यात बहुभाग पर्याप्त है और संख्यात एक भाग अपर्याप्त है। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं, उनमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रियों की 6 राशियों की संख्या का क्रम कायमार्गणा में कहा जायेगा, ऐसा जानना।

विशेषार्थ :– सम्पूर्ण जीव राशि में अनिन्द्रिय जीवों (मुक्तजीवों) को कम कर देने पर संसारी जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। उसमें से द्वीन्द्रिय – त्रिन्द्रिय – चतुन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को अथवा त्रस जीवों को कम करने पर एकेन्द्रिय जीव राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। इस एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव राशि में बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव सबसे स्तोक है। बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक है। बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का जितना प्रमाण है, उतने विशेष अधिक हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव बादर एकेन्द्रिय के प्रमाण से असंख्यातगुणे हैं। असंख्यात लोक गुणकार हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव सूक्ष्मएकेन्द्रिय अपर्याप्तकों के प्रमाण से विशेष अधिक है। बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकों का जितना प्रमाण है तन्मात्र विशेष अधिक है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के प्रमाण से संख्यात गुणे हैं। गुणकार संख्यात समय है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों का जितना प्रमाण हैं। उतने विशेष अधिक हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रियपर्याप्तक जीवों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तकों के प्रमाण से रहित सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तों का जितना प्रमाण है तन्मात्र एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म एकेन्द्रियों के प्रमाण से विशेष अधिक हैं। बादर एकेन्द्रिय का जितना प्रमाण है उतने विशेष अधिक हैं।

अङ्कसंदृष्टि – एकेन्द्रिय जीव राशि 256 । सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव राशि 240 । बादर एकेन्द्रिय जीव राशि 16 । सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव राशि 180। सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव राशि 60 । बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव राशि 12 । बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवराशि 4 । एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव 72। एकेन्द्रिय पर्याप्तक 184 ।

त्रसजीवों की संख्या का प्रभाव -

बितिचमाणसंखेण वहिदपदरंगुलेण हिदपदरं।
हीणकमं पडिभागो आवलियासंखभागो दु।। (178)

बहुभागो समभागो चउण्णमेदेसिमेक्क भागहिम।
उत्तकमो तत्थाबि बहुभागो बहुगस्स दे ओदु।। (179)
तिबिपचपुण्णपमाणं पदरंमुलसंखभागहिदपदरं।
हीणकमं पुण्णूणा वितिचपजीवा अपज्जत्ता।। (180)

गाथार्थ :– असंख्यात से विभक्त प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या का प्रमाण प्राप्त होता है। परन्तु द्वीन्द्रियादि पूर्व-पूर्व की अपेक्षा त्रीन्द्रिय आदि उत्तर-उत्तर का प्रमाण क्रम से हीन होता गया है। इसका प्रतिभाग आवली का असंख्यातवाँ भाग है। बहु भाग के चार समान खण्ड करके एक-एक खण्ड उक्त क्रम से एक-एक राशि को देना चाहिए। शेष एक भाग में से बहुभाग बहुत संख्या वाले को देना चाहिए। ऐसे अनन्त तक करना चाहिए। प्रतरांगुल के संख्यातवें भाग से जगत्प्रतर को खण्डित करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त होता है जो क्रम से हीन है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाणों में से उन उनके पर्याप्तकों का प्रमाण कम कर देने पर शेष अपर्याप्तकों का प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ :– प्रतर-अंगुल के असंख्यातवें भाग से जगत्प्रतर को भाजित करने पर द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से त्रीन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है और त्रीन्द्रिय जीवों के प्रमाण से चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रमाण से पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण हीन है। इस प्रकार ये क्रम से हीन है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है- आवली के असंख्यातवें भाग से प्रतर अंगुल को भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उससे जगत्प्रतर को भाग देने पर त्रस राशि का प्रमाण प्राप्त होता है। उस त्रस राशि प्रमाण को आवली के असंख्यातवें भाग से भाजित कर एक भाग को पृथक् स्थापित करके, बहुभाग के चार सम खण्ड करके, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन चारों का हीन अधिकता से रहित एक-एक समखण्ड देना चाहिए। पृथक् स्थापित एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग

से खण्डित करके, बहुभाग को द्वीन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए क्योंकि इन चारों में द्वीन्द्रिय जीवराशि का प्रमाण सबसे अधिक है। शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डितकर बहुभाग त्रीन्द्रिय जीव राशि को देना चाहिए क्योंकि अवशिष्ट त्रीन्द्रिय आदि तीन राशियों में त्रीन्द्रिय राशि अधिक है शेष एक भाग को पुनः आवली के असंख्यातवें भाग से खण्डित कर बहुभाग चतुरिन्द्रिय जीवराशि को देना और शेष एक भाग पंचेन्द्रिय जीवराशि को देना चाहिए, क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव राशि सबसे कम हैं। इन अपनी-अपनी देश राशियों के अपने-अपने समखण्डों में मिलने पर द्वीन्द्रिय आदि जीवों का प्रमाण प्राप्त होता है।

(गोम्स. सार पृ. 244)

1. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय अनन्तजीव 2. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय अनन्त जीव 3. पर्याप्त सूक्ष्मएकेन्द्रिय अनन्तजीव 4. अपर्याप्त सूक्ष्मएकेन्द्रिय अनंत जीव 5. बादर पर्याप्त द्वीन्द्रिय असंख्यात जीव 6. बादर अपर्याप्त द्वीन्द्रिय असंख्यात जीव 7. बादर पर्याप्त त्रीन्द्रिय असंख्यात जीव 8. बादर अपर्याप्त त्रीन्द्रिय असंख्यातजीव 9. बादर पर्याप्त चतुरिन्द्रिय असंख्यातजीव 10. बादर अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय असंख्यातजीव 11. संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातजीव 12. संज्ञी अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यात जीव 13. असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातजीव और 14. असंज्ञी अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातजीव। इस प्रकार संक्षेप में ये चौदह जीव समास होते हैं।

मिच्छा सावयसासण मिस्साविरदा दुवारणंता य।
पल्ला संखेज्जदिममसंखगुणं संखसंखगुणं।। (624)

गाथार्थ : मिथ्यादृष्टि जीव दुवार अनन्त अर्थात् अनन्तान्त हैं। श्रावक (संयतासंयत जीव) पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। उनसे असंख्यात गुणे सासादन गुणस्थान वाले जीव हैं। उनसे संख्यात गुणे मिश्र (सम्यक्त्व मिथ्यात्व) गुणस्थान वाले जीव हैं। उनसे भी असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि जीव है।

प्रमत्त व अप्रमत्त संयत साधु जीवों की संख्या -

तिरधिय सय णवणउदि छण्णउदी अप्पयमत्त वे कोडी।
पंचेव य तेणउदि णवट्ठविसयच्छउत्तरं पमदे।। (625)

गाथार्थ :- प्रमत्तसंयत जीवों को प्रमाण पाँच करोड़ तेरानवे लाख अट्ठानवे हजार दो सौ छह है और अप्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण दो करोड़ छयानवें लाख निन्यानवें हजार एक सौ तीन है।

विशेषार्थ :- प्रमत्तसंयत जीवों का प्रमाण 59398206 है और अप्रमत्त संयत जीवों का प्रमाण 29699103 है।

चारों गुणस्थानों के उपशमक व क्षपक जीवों की संख्या-

तिसयं भणंति केई चउरूत्तरत्थपंचयंकेई।
उवसामगपरिमाणं खवगाणं जाण तद्दुगुणं।। (626)

गाथार्थ :- कितने ही आचार्य उपशमक जीवों का प्रमाण तीन सौ कहते हैं, कितने ही आचार्य तीन सौ चार (304) और कितने ही आचार्य तीन सौ चार में से पाँच कम (304-5) = 299 कहते हैं। यह उपशमक जीवों का प्रमाण हैं। क्षपक जीवों का प्रमाण इससे दूना होता है।

सयोगकेवली की संख्या -

अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं।
संखा जोगिजिणाणं पंचसयविउत्तरं वंदे।। (629)

योगिजनों की संख्या आठ लाख अठानवें हजार पाँच सौ दो हैं। इनकी मैं वन्दना करता हूँ।

सर्व संयमी जीवों की संख्या का प्रमाण -

सत्तादी अट्ठता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि।। (633)

जिस संख्या के आदि में सात है और अन्त में आठ और बीच में नौ-नौ के अंक छह है (89999997) वह सर्व संयातों की संख्या है। इनको मैं मन-वचन, काय की शुद्धता पूर्वक अंजलि रूप से हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।

शङ्का – सम्पूर्ण तीर्थंकरों की अपेक्षा श्री पद्म भट्टारक का शिष्य परिवार अधिक था, क्योंकि वे तीन लाख तीस हजार (330000) मुनिगणों से वेष्टित थे। इस संख्या को एक सौ सत्तर से गुणा करने पर पाँच करोड़ इकसठ लाख संयत होते हैं। परन्तु यह संख्या गाथा में कहे गये संयतों के प्रमाण को नहीं प्राप्त होती है। इसलिये यह गाथा ठीक नहीं है।

समाधान :– सम्पूर्ण अवसर्पिणियों की अपेक्षा यह हुण्डावसर्पिणी हैं, इसलिये युग के माहात्म्य से घटकर ह्रस्व भाव को प्राप्त हुए हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी तीर्थंकरों के शिष्य परिवार को ग्रहण करके गाथा सूत्र को दूषित करना शक्य नहीं है, क्योंकि शेष अवसर्पिणियों में तीर्थंकरों के बड़ा शिष्य परिवार पाया जाता है। दूसरे भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों की अधिक संख्या नहीं पाई जाती है। जिससे उन दोनों क्षेत्र सम्बन्धी एक तीर्थंकर के संघ के प्रमाण से विदेह सम्बन्धी तीर्थंकर का संघ समान हो। किन्तु भरत ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों से विदेह क्षेत्र के मनुष्य संख्यात गुणे हैं। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

अन्तरद्वीपों के मनुष्य सबसे कम हैं। उत्तरकुरु–देवकुरु के मनुष्य उनसे संख्यात गुणे हैं। उनसे संख्यातगुणे हरि और रम्यक क्षेत्र के मनुष्य हैं। उनसे संख्यातगुणे हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य हैं। उनसे संख्यातगुणे विदेह क्षेत्र के मनुष्य हैं। बहुत मनुष्यों में संयत जीव बहुत ही होंगे इसलिये इस क्षेत्र सम्बन्धी संयतों के प्रमाण को प्रधान करके जो दूषण कहा गया है वह ठीक नहीं है। उत्तर मान्यता का कथन इस प्रकार है –

चउसट्ठी छच्च सया छासट्ठिसहस्स चेवपरिमाणं।
छासट्ठिसयसहस्सा कोडिचउक्कं पमत्ताणं।। (52)

(उत्तर मान्यता के अनुसार) प्रमत्त संयतों का प्रमाण चार करोड़ छयासठ लाख छयासठ हजार छह सौ चौसठ (46666664) है।

वे कोडि सत्तवीसा होंति सहस्सा तहेव णवणउदी।
चउसद अट्ठाणउदी परिसंखा होदि विदियगुणे।। (53)

(उत्तर मान्यता के अनुसार) द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त संयत

जीवों की संख्या दो करोड़ सत्ताईस लाख निन्यानवें हजार चार सौ अट्ठानवें (22799498) हैं।

पंचवे सयसहस्सा होंति सहस्सा तहेव तेत्तीसा।
अट्ठसया चोत्तीसा उवसम, खवगाण केवलिणो।। (55)

(उत्तर मान्यता के अनुसार) चारों उपशमक, पाँचों क्षपक और केवली ये तीनों राशियाँ मिलकर कुल पाँच लाख तैंतीस हजार आठ सौ चौंतीस हैं। (533834) इन सब संयतों को एकत्र करने पर एक सौ सत्तर कर्म भूमिगत सम्पूर्ण ऋषि होते हैं।

(प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले जीव 46666664)+ अप्रमत्त संयत सातवें गुणस्थान वाले 22799498 + चारों उपशमक – पाँचों क्षपक – केवली 533834 = 69999996 सब संयत होते हैं।

छक्कादी छक्कंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु। (56)

जिस संख्या के आदि में छह, अन्त में छह और मध्य में छह बार नौ है (69999996) उतने सम्पूर्ण संयत हैं। इसमें तीन का भाग देने पर अप्रमत्तसंयत (सातवें गुणस्थान) 14वें गुणस्थान तक) जीव होते हैं और इस तीसरे भाग को दो से गुणा करने पर प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। (69999996 ÷ 3 = 23333332 सर्व अप्रमत संयत, 23333332 × 2 = 46666664 प्रमतसंयत जीव होते हैं। यह उत्तर मान्यता के अनुसार कथन है।)

प्रत्येक जीव को अपने समान मानकर मन-वचन-काय से निर्मल प्रेम करना दया है।

अध्याय -11

पंचम काल/कलिकाल का प्रभाव

वर्तमान काल हुण्डावसर्पिणी का पंचम (कलि) काल है। इस काल में अधिकांश जीव नरक से आयेंगे एवं नरक में जायेगे। सम्यग्दर्शन को लेकर भी इस काल में जीव यहाँ जन्म नहीं लेगें, भले कुछ जीव यहाँ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करेंगे। इसलिये अभी सम्यग्दृष्टि जीव कम हैं। कहा भी है-

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्षिवह।

खद्योतवत्सुदेष्टारोहा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्।। (9) सा.धर्मा.पृ.93

बड़े दुःख की बात है कि इस भरत क्षेत्र में पंचम काल रूपी वर्षाकाल में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेश रूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सदुपदेश देने वाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं कहीं पर दिखते हैं अर्थात् सब जगह नहीं मिलते। सम्यग्दर्शन के अभाव से तो अंतरंग से धर्म का सेवन नहीं होता है, परन्तु कुछ बाह्य कारक से धर्माचरण होता है। कभी-कभी तो उसका साधन एवं साध्य अपवित्र रहता है, जो कभी साध्य तो कभी साधन अपवित्र रहता है। 'गोमुख व्याघ्र' वाले व्यक्तिजो धर्माचरण करते हैं, उसके कुछ बाह्य कारणों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है।

भयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथ्यैव च।

पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।

पंचमकाल के लोग जैन धर्म को (1) लोक भय से (2) अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिये (3) कीर्ति के लिये (4) लज्जा से (5) आशा से पालना करेंगे।

पंचम काल में धर्म की जो दयनीय स्थिति है, उसका कुछ पूर्वाभास सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के स्वप्न में पाया जाता है। उन स्वप्नों में से कुछ स्वप्नों के फल नीचे उद्धृत करता हूँ। यथा --

बहुं रंध्रान्वितस्येन्दोर्मण्डलोकनादिह।

मत भेदा भविष्यंति बहवः जिनशासने।। (34)

चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्तदेखना पंचम काल में जिन मत के अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है।

खद्योतोद्योतनाल्लोका जिन सूत्रोपदेशकाः।

मिथ्यात्व बहुलास्तच्छा जिन धर्मोपि कुत्राचित्।। (35)

खद्योत का उद्योत देखने से जिन सूत्रों के उपदेश करने वाले मनुष्य मिथ्यात्व युक्तहोंगे और जिनधर्म कहीं कहीं रहेगा।

रजसाऽच्छादित सद्रलराशेरीक्षणतो भृशम्।

करिष्यन्ति नृपाः स्तेयां निर्ग्रन्थमुनयो मिथः।। (7)

धूलि से आच्छादित रत्नराशि के देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लेगेंगे। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुये स्वप्नों का फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप में जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्तमौर्य का स्वप्न-स्वप्न ही नहीं रहा वास्तविक रूप में परिणमन होते हुये अनुभव में आ रहा है। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्त देखने का फल, कलिकाल में जिनमत के अनेक मत सम्प्रदाय पंथ का प्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसा परायण, साम्यवादी अनेकांत एवं स्याद्वाद के पुजारी जैनियों में अनेक मतभेद होते जा रहे हैं। जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता, एकता का विधाता था, आज उसी धर्म में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मनमुटाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन भाग नहीं ले रहे हैं किन्तु विशिष्ट श्रावक नेता कर्णधार, पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक मुनि आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अन्धकार रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्यूब आदि के नीचे अन्धकार है। इसी प्रकार पहले मिथ्या कुधर्म में विवाद आदि होता था, परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है यह सब कर्म दोष

से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से तथा कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुये चित्रकों ने यथार्थ से कहा है-

सीदयंति संतो विलयसंत्यंसंत् पुत्रा म्रियेने जनकाश्विरायुः।
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैर पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।।

हे विश्व के लोग! कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये। इस कलिकाल में सज्जन लोग दुखित होते हैं तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरों से मित्रता करते हैं तथा स्वजन वे वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता।
भतिरविनये धर्मे शाठ्यं गुरुन्ष्वपि वंचना।।
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।।

झूठ बोलने में चतुर-दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र-पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता (मायाचारी) गुरु की भी वंचना, प्रत्यक्ष में ललित-मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषाण करना यह सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्वालितस्तयः प्रचलितं, सत्यं च दूरे गतं।
पृथ्वीमन्दफला नृपोऽति कुटिलो लौल्ये गता ब्राह्मणाः।।
लोकाः स्त्रीपुरताः स्त्रीयोऽपि चपलाः शास्त्रगमे विप्लवेः।
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं। सत्य दूर भाग जाते हैं। पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है। राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं। लोग स्त्री में आसक्तरहते हैं, स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है। शास्त्र आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वीर्यो पृथिवी, निरोषधिस्सो, नीचा महत्वं गताः।।
भूपालाः निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमार्ग रता।।
आर्या भर्तं विरोधिनी पर रता, पुत्राः पितृद्वेषिणो।।
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नरा सज्जनाः।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथ्वी वीर्यहीन (सारहीन) हो जाती है, रस प्राणशक्तिको देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं। राजा लोग स्व-कर्त्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं। ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं। स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर-पुरुष में रत होती है। पुत्र-पिता द्वेषी हो जाते हैं। इसी प्रकार भयंकर कलियुग में जो नर, धर्म नीति नियम को पालन करते हैं वे धन्य हैं। वर्तमान समय में धर्म की अपेक्षा धन की, त्याग की अपेक्षा संग्रह की योग की अपेक्षा भोग की सहजता की अपेक्षा धन की, त्याग की अपेक्षा संग्रह की योग की अपेक्षा भोग की सहजता की अपेक्षा, कृत्रिमता की सरलता की अपेक्षा साक्षरता की प्रधानता है। अधिकांश व्यक्ति स्वदीपक को प्रज्ज्वलित किये बिना दूसरों के दीपक प्रज्ज्वलित करना चाहते हैं, बोध बिना साधना करते हैं बिना भक्तबने भगवान् बनना चाहते हैं शिष्य बने बिना गुरु बनते हैं, स्वयं उच्छृंखल व्यवहार करते हुये भी दूसरो को अनुशासन का पाठ पढ़ाते हैं। ''चोर कोतवाल को डाटता है।'' कहावत के अनुसार कुछ पापी सज्जन को आदर्श का उपदेश देते हैं। परिग्रहादि से लिप्त व्यक्ति निर्ग्रन्थ साधु को भी अहिंसा का मार्ग दिखाते हैं। साधुओं की वृत्ति अलौकिक होती है तथापि कुछ व्यक्तिसाधु के लिंग (वेष) में लोकेषणा, प्रसिद्धि, ख्याति, पूजा, लाभ, पन्थवादादि कतिपय कारणों से लौकिक जनों का ही अनुकरण/अनुसरण करते हैं, यहाँ तक कि कुछ साधु वेषधारी तो सत्य धर्म एवं सच्ची परम्परा का भी त्याग कर देते हैं। यह सब 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के कारण होते हैं। अतः सत्यग्राही मुमुक्षुओं को अपनी प्रखर प्रज्ञा, अविचल वृत्ति से सत्य, न्याय समता को स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि इससे ही स्व-पर, इह लोक-परलोक-कल्याण निहित है। आगम में कहा गया है कि दूसरों के मिथ्या उपदेश को

स्वीकार करना गृहीत मिथ्यात्व है। निर्दोष, निष्पक्ष, निर्लोभी, निरहंकारी, निर्भयी, निर्मल, सत्यग्राही सत्यदृष्टा ही सत्यार्थ कथन कर सकता है। अतः उनके कथन को ही स्वीकार करना गृहीत चाहिए। परन्तु जो उपर्युक्त गुणों से रहित है वह कथन नहीं कर सकता है अतः उसके वचन स्वीकार नहीं करना चाहिए। धर्मात्मा का एक विशिष्ट गुण है 'अमूढ़दृष्टि सम्पन्नता'। बिना अमूढ हुये कोई सत्यग्राही-सम्यग्दृष्टि-साम्यवादी-धर्मात्मा नहीं बन सकता है, और बिना सत्याग्राही हुये ज्ञान, चारित्र पूजपाठ दान अहिंसा ब्रह्मचर्य तप त्यागादि ईकाई बिना शून्य के समान है। जैसे - बाम भाग में पूर्णांक ईकाई (1-2-3 आदि) के बिना एक शून्य का मूल्य शून्य है, जो शून्य का मूल्य भी शून्य ही होता है इसी प्रकार 3-4 से लेकर करोड़ अरबों शून्य का मूल्य भी शून्य ही होता है परन्तु जब बायें भाग में कोई ईकाई सहित है तब एक शून्य लगाने पर उसका मूल्य 10 गुना बढ़ जाता है। दो शून्य लगाने पर 100 गुना बढ़ जाता है। इस प्रकार ही सत्यग्राही, सम्यग्दृष्टि के ज्ञान, चारित्र, पूजा पाठ दान, त्याग स्वाध्यायादि सत्य एवं बहुमूल्य सम्पन्न हो जाते हैं।

पंचम काल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थकाल में 1000 वर्ष के समान है :-

इस अत्यन्त विपरीत हुण्डावसर्पिणी रूप इस पंचम काल में अत्यन्त दुर्द्धर महाव्रतादि धारण कर अत्यन्त भौतिक भोग विलासरूपी वातावरण में विचरण करना लोहे के चने चबाने के समान है। यह कोई बच्चों का खेल नहीं अथवा बहुरूपियों का खेल नहीं है। वातानुकूलित (एयरकण्डिशन) कमरे में बैठकर वातानुकूलित (स्वयं के अनुकूल बात) आध्यात्मिक, शुष्क बौद्धिक चर्चा नहीं है जो धीर वीर है वही पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान् के निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करता है।

सहणणं अइणीचं कालो सो दुरसमो मणो चवलो।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वय भर धरण उच्छहिया।।130।। भावसंग्रह
वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कामण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण संहणणे।।131।।

इस पंचमकाल में संहनन अत्यन्त हीन है, काल अत्यन्त दुःषम है, मन अत्यन्त चंचल है। तथापि जो धीर-वीर पुरुष महाव्रत रूपी महाभार को धारण करने के लिये उत्साहित हैं, वे महान् प्रशंसनीय हैं, वंदनीय है, पूजनीय है। चतुर्थकाल में जिस उत्तम संहनन युक्त शरीर के माध्यम से तपश्चरण द्वारा जो कर्म एक हजार वर्ष में नष्ट होता था, उतना ही कर्म वर्तमान दुःष्काल में हीन संहनन युक्त हीन शरीर से एक वर्ष के तपश्चरण द्वारा नष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थकाल की अपेक्षा पंचमकाल में मुनिव्रत धारण, पालन तपश्चरणादि 1,000 गुणा दुष्कर है।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य -

धन्या भारत वर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निखद्यो भ्रश्यन्मनः पर्यये।
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जैनेन्द्रबवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्ययम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर केवली अवधि-मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है। योग्य श्रोताओं का भी अभाव है। विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकर से रहित कलियुग के मनुष्य हैं। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन काल में अर्थात् चतुर्थकाल में धर्म साधन के अनुकूल परिस्थिति थी। इसीलिये उस समय में धर्म का आचरण करना सरल था, परन्तु वर्तमान पंचम काल में विपरीत परिस्थिति में धर्म का आचरण कष्ट साध्य है। जैसे अनुकूल जल के स्रोत में नौका को खेकर ले जाना श्रमसाध्य है। जो प्रतिकुल स्रोत में एवं तूफान के समय में नौका खेकर अपने गंतव्य स्थान में बढ़ते हैं, वह जैसे धन्यवाद के पात्र हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कलिकाल में जो धर्म का श्रद्धापूर्वक विवेकपूर्वक पालन करते हैं वे धन्य हैं।

उपसंहार :– अभी तक (1997) जो मैंने 11 प्रदेशों के हजारों छोटे ग्राम से लेकर महानगर तक का परीक्षण-निरीक्षण, शोध-बोध किया। पूर्व इतिहास, पुराण को पढ़ा एवं सुना। उसके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि पहले के कुछ शताब्दि से विशेषकर मुसलमान आक्रमण तथा शासनकाल (पराधीन काल) से लेकर उन्नीसवीं शताब्दि तक के काल खण्ड से वर्तमान का काल अच्छा है। पराधीन काल में लोग अधिक संकीर्ण, अंधविश्वासी, धर्म के नाम पर भेद-भाव, वाद-विवाद झगड़ा-कलह युद्ध करने वाले, राष्ट्रीय भावना, संगठन से रहित, कबीलावादी, संकीर्ण स्वार्थी धर्माडम्बरी आदि दुर्गुणों से युक्त थे। प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि इन दुर्गुणों के कारण ही भारत परतंत्र हुआ। पराधीन काल में भारतवासी केवल राजनैतिक दृष्टि से ही परतंत्र नहीं थे परन्तु नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, सभ्यातागत, भाषागत, धार्मिक आदि दृष्टि से भी परतंत्र थे। अभी के लोग कुछ दृष्टि से खराब (इसका वर्णन मैंने अन्यत्र अनेक लेख, साहित्य में किया है, वहाँ दृष्टव्य है) होते हुये भी कुछ दृष्टि से कुछ अंश से पहले से भी अच्छे हैं। अभी के लोग तार्किक, उदार धार्मिक कट्टरता से रहित बात-बात पर झगड़ा कलह युद्ध नहीं करने वाले वैज्ञानिक शोध-बोध से युक्त हैं अभी के अनेक किशोर-किशोरियाँ, युवक-युवतियाँ भले कुछ फैशन आदि करते हैं परन्तु धार्मिक एवं उदार भाव से युक्त भी पाये जाते हैं। उन्हें उदार, वैज्ञानिक-आधुनिक दृष्टिकोण से धर्म को समझाने पर वे अच्छे धार्मिक प्रवृत्ति वाले बनते हैं। वर्तमान के अधिकांश अच्छे प्रभावशाली ज्ञानी साधु-साध्वियाँ कम आयुवाले या कम आयु में दीक्षा शिक्षा प्राप्त करने वाले हैं। अभी के साधु विभिन्न विषयों का ज्ञान रखते हैं तथा अन्य धर्मावलम्बियों से साम्यभाव रखते हैं। प्रायः एक शताब्दि के पहले से लेकर कुछ शताब्दिओं के पूर्व अर्थात् आचार्य शांतिसागरजी के उदय के पहले तक जहाँ दिगम्बर जैन साधुओं का दर्शन तक नहीं मिलता था आज 800-900 साधु धर्म की प्रभावना कर रहे हैं। प्रत्येक वर्ष अनेक पंचकल्याणक, विधान, शिविर, संगोष्ठी प्रश्नमंच हो रहे हैं, सत् साहित्यों का प्रकाशन प्रचार-प्रसार हो

रहा है। अनेक साधु-सन्त से लेकर वैज्ञानिक तक धर्म को वैज्ञानिक-श्रेष्ठ/अनुकरणीय सिद्ध कर रहे हैं। तथापि जैन धर्म की महानता/विशालता/विशिष्टता/उपादेयता/आवश्यकता के अनुपात से जैन धर्मावलम्बियों की संख्या/उपलब्धि बहुत ही स्वल्प है।

उपर्युक्त सिद्धान्त केवल जैन धर्म के लिए नहीं है। यह सिद्धान्त प्रायःव्यक्ति, परिवार, संगठन, ग्राम, प्रदेश, देश, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आदि में भी लागू होते हैं। किसी भी क्षेत्र की उपलब्धि या अनुलब्धि के अनेक अन्तरंग-बहिरंग कारण/कारक/घटक होते हैं उनमें से यहाँ पर कुछ कारणों के बारे में अनुसंधान/उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त उल्लेखित कारणों में अनेक आनुषंगिक/प्रासंगिक या उपकरण भी गर्भित हैं। इसी प्रकार और भी अनेक कारण हो सकते हैं। जिस प्रकार ग्रीक, आदि राजवंश या सभ्यता से लेकर भारतीय राजवंश तक का जो ह्रास हुआ, विनाश हुआ उसमें कारण है - उनकी, समर आसक्ति, अन्यायशीलता दूसरे राजाओं से शत्रुता आदि। इसी प्रकार धर्म के ह्रास के लिए भी यह कारण कारगार होते हैं। अतः हमें भूल से भी, समस्याओं से भी शिक्षा लेकर तथा गुणों से प्रेरणा प्राप्त कर कार्य करना चाहिए; जिससे हमसे गलतियाँ न हो, विकास का मार्ग अवरुद्ध न हो।

प्रार्थना/गुरुवंदना

तर्ज – (स्याद्वाद के इस.....)

सूरी कनकनंदी गुरुवर नित अनुभव जोत जलाते हैं।
विश्व के कोने-कोने में गुरु ज्ञान की अलख जगाते हैं।।

सिंह के जैसा विक्रम जिनका नहीं किसी से जो डरते।
ध्यान, मनन और चिंतन रत हो भद्र भाव सदा रखते।।
तेरी ज्ञानमयी मूरत लख ज्ञान सुमन विकसाते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

ममता का जो त्याग करें और समता को अपनाते हैं।
घर कुटुम्ब का नाता तोड़े, विश्व को कुटुम्ब बनाते हैं।।
अधरों की मुस्कान को पाने, भव्य शरण में आते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

निष्पृहवृत्ति अपनाकर भी परोपकार किया करते।
धीरज, साहस, स्वाभिमान, जो कभी नहीं भुला सकते।।
विनम्र, सेवाभावी के चरणों में शीश झुकाते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

विश्वबन्धुत्व का भाव जगाकर सबको मार्ग बताते हैं।
आतम का जो ध्यान लगा, एकांतवास अपनाते हैं।।
परम सत्य की खोज लगाते, भक्त खोजते आते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

अनुशासन, समयानुबद्ध का पाठ हमें सिखलाते हैं।
निष्पक्षहृदय, वात्सल्यमयी, सबपे करूणा बरसाते हैं।।
धर्म संस्कृति की रक्षा में अपना कदम बढ़ाते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

आदर्श बने निज जीवन में जो जीना हमें सिखाते हैं।
कैसे सोना, कैसे उठना आगम सूत्र बताते हैं।।
'क्षमा' मयी लेकर कटार जो अहिंसा व्रत अपनाते हैं।
विश्व के कोने-कोने में .....

भजन – गुरु कर दो बेड़ा पार

तर्ज – (हम भूल गये हर बात.....)

श्री कनकनंदी आचार्य करना अब मेरा उद्धार।
हमने पाया सच्चा साथ गुरुजी कर दो बेड़ा पार।।

न कोई जो शृँगार करें, निज गुण का जो अलंकार धरें।
निज मोह कुटुम्ब का त्याग करें और प्राणीमात्र से प्यार करें।।
परिग्रह का, करते त्याग, फिर भी भरते ज्ञान भण्डार।
हमने पाया सच्चा .....

हैं भगवन् बालब्रह्मचारी फिर भी चाहें मुक्तिनारी।
रहना चाहें एकांतवास, जग को देते अनेकांतवाद।
है अनोखा जिनका ज्ञान, ज्ञानी करते हैं रसपान।
हमने पाया सच्चा .....

निष्कपट, निस्वार्थी होकर भी परमार्थी जो बन जाते हैं।
सुख, शांति, अमन पाने हेतु शांति चर्या अपनाते हैं।
वीरों का, पालें धर्म किन्तु न करते ममकार।
हमने पाया सच्चा .....

हो स्वाभीमान से युक्त गुरु नारा जो सदा लगाते हैं।
कहते दुनियाँ को झुकाउँगा उससे पहले झुक जाते हैं।
''फाल्गुनी'' करें कल्याण पा कर गुरुवर तेरा द्वार।

मुक्तक

रचनाकार –विधि

राहगीरों की तरह रास्ते में भटक जाते हैं लोग,
धोखे मिलते हैं फिर भी आगे बढ़ते जाते हैं लोग।
जिन्हें है सच्ची चाह चाह संसार से मुक्त होने की,
वही अध्यात्म गुरु कनकनन्दी की शरणा पाते हैं लोग।।
बिखर रहे मोती उन्हें उठा लो,
कल मिले ना मिले आज पुण्य कमा लो।।
आज मिला मनुष्य भव कल मिले ना मिले, हे आत्मन!
ऐसे ध्यान स्वरूपी कनकनन्दी की शरणा पा लो।।

भजन

रचनाकार –विधि

कनकनन्दी नाम तिहारो,
ज्ञान से हमको भर दो,
सूनी जीवन की राहों में,
आज उजाला कर दो।।
गुरुवर हमारे जग से निराले,
हैं वैज्ञानिक योगी 2
श्रद्धा तुम पर मेरी गुरुजी,
हमें दो आध्यात्मिक ज्योति 2
मोक्ष पद पर बढ़ूँ निरन्तर 2
ऐसा मुझको वर दो।।
कनकनन्दी .....

करे अर्चना तव चरणन की,
अब तो शरण में ले लो 2
याचक बनकर आयी हूँ द्वारे,
सर पे हाथ ये रख दो 2
हे गुरुवर! बनो सहायक 2
आनन्द मन में भर दो।।
कनकनन्दी नाम तिहारो,
ज्ञान से हमको भर दो,
सूनी जीवन की राहों में, ...

कविता

रचनाकार –विधि

एक बार हे मन! इस मंजिल पर आके तो देख,
एक बार हे मन! ये रास्ता निभाके तो देख।।
लाखों रास्ते तले मुड़ किन्तु सुख ना मिलेगा तुझे
एक बार हे मन! तपस्वी गुरु की शरणा पाके तो देख,
एक बार हे मन! तपस्वी गुरु चरणों में शीश झुकाके तो देख।
एक बार हे मन! गुरु का सानिध्य पाके तो देख।
चलते-चलते भटक जायेगा तू उन रास्तों में
एक बार हे मन! गुरु चरणों की तरफ कदम बढ़ाके तो देख
क्या खोज रहा है तू जो तेरा था ही नहीं।
अंधेरों की राशियों में कभी उजाला था ही नहीं।।
एक बार हे मन! इन चरणों में खुद को समर्पित करके तो देख
भर देंगे तेरी झोली ज्ञान के मोतियों से
जीवन में नई किरण आयेगी,
इन चरणों से प्रीत लगाके तो देख, बस
एक बार हे मन! कनकनन्दी गुरुदेव का आश्रय पाके तो देख।

भजन-समता गवेषक सच्चे श्रमण

तर्ज– (बहुत प्यार करते .....)

कनकनंदी गुरुवर तुमको नमन -2
ले लो हमें भी -2 अपनी शरण।।
कनकनंदी .....
अनुशासन में चलना सिखाते,
सत्य धर्म का पाठ पढ़ाते,
तुम हो गुरुवर - 2 तारण-तारण।।
कनकनंदी .....
नाना विधाओ का ज्ञान कराते।
स्वावलम्बी गुरु हमको बनाते।
समता गवेषक-2 सच्चे श्रमण।।
कनकनंदी .....
'राजश्री' श्री चरणों में आई।
भक्ति सुमन की माल बनाई।
दे दो मुझे भी-2 ज्ञान रतन।।
कनकनंदी .....

शिविर गान - शिविर में आओ

आ. क्षमाश्री तर्ज– (लकड़ी की काठी .....)

कनकनंदी की शरणा पाओ
आचार्य श्री की भक्ति रचाओ
आओ - आओ - आओ बच्चों ज्ञान शिविर में आओ -2
ल ल ल ल...
सत्य गवेषक आप हो, सत्य की बात बताते हो
ज्ञान सरोवर में गुरुवर गोता आप लगाते हो
आओ - आओ - आओ बच्चों ज्ञान का दीप जलाओ
ल ल ल ल...
गुरु ने शिविर लगाया है, हमको यहाँ बुलाया है।
जीवन चर्या सिखलाकर जीवन सफल बनाया है-2
आओ-आओ-आओ बच्चों जीवन सफल बनाओ
ल ल ल ल...
बच्चे आपको प्यारे हैं, गुरुवर आप हमारे हैं,
अच्छी बात बताते हैं, भगवन् सबसे न्यारे हैं-2
आओ - आओ - आओ बच्चों सच्ची शिक्षा पाओ -
ल ल ल ल...
कनकनंदी .....

महान् भारत बनाम इंडिया

शब्द संकलन – आ. कनकनंदी

(तर्ज – हम उस देश के वासी हैं जिस देश में गंगा बहती है।)

संस्कृति की पावन धारा से धरती माता खुश रहती थी।
हम उस देश के वासी हैं-2 जहाँ ज्ञान की सरिता बहती थी।।
भारत था सबसे ही प्यारा, अध्यात्म गुरु पूजा वाला
अब इंडिया कहलाता है, अप संस्कृति धार बहाता है-2
अब पूजा गुरु की कम होती, नायक-नायिका की होती है।
हम उस देश.....
भारत में जो भी आता था, आदर्श यहाँ पर पाता था
अध्यात्म गुरु की पूजा कर, जीवन को सफल बनाता था-2
संत समागम को हम भूले कुसंगति अब भटकाती है।।
हम उस देश.....
नदियों का नाला बना डाला, उनमें सारा कचरा डाला
कुसंस्कृति की धारा ने इंसा को हैवा बना डाला-2
बढ़ गया प्रभाव प्रदूषण का, जन हानि हरदम होती है।
हम उस देश.....
जहाँ प्रभु को पाने वाले नित साधन अपनाये जाते थे।
साधना प्रभु बन जाने में, दिन-रात बिताये जाते थे-2
अब इस देश में हरदम ही, धन मान की पूजा होती है।।
हम उस देश.....
यह देश जगत् में विश्वगुरु के नाम से जाना जाता था।
यह ज्ञान से पोषण करता था, जो भारतवर्ष कहलाता था-2
भ्रष्ट देशों की गिनती में, इसकी छवि देखी जाती।
हम उस देश.....
जहाँ भावों की निर्मलता से ही, सच्ची प्रभावना होती थी।
जन-जन में जहाँ हरपल देखो, धरम की प्रभावना होती थी-2
अब भीड़ बढ़ाकर के देखो, धन की ही लालसा होती है।
हम उस देश.....
इण्डिया से इडियट बना करके, हमको भी मूर्ख बना डाला।
साक्षरता से राक्षस बनाकर के, भारत को गारत बना डाला। -2
जहाँ दूध की धारा बहती थी, अब सुरा की धार बहती है।
हम उस देश.....
अध्यात्मज्ञानी विज्ञानी बनकर विज्ञान हमें बतलाया है
अब कनकनंदी का दिल रोये, क्यों पीछे कदम हटाया है-2
देख पतित भारतवासी, भारत माता भी रोती है।
हम उस देश.....

प्रस्तुति – आर्यिका क्षमाश्री माताजी

आचार्य कनकनंदी ससंघ सम्बन्धी संस्था, वेबसाइट आदि

1. धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान, बड़ौत स्थापना-सन् 1989
2. धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, उदयपुर स्थापना-सन् 2000

शाखाएँ -1. मुजफ्फरनगर 2. गाजियाबाद 3. कोटा 4. सलूम्बर 5. प्रतापगढ़ 6. मुम्बई 7. अमेरिका 8. सागवाड़ा 9. सीपुर

सहयोगी/सम्बन्धी संस्थाएँ

1. Jain Philosophy and Science, Udaipur - सन् 2007
2. जैन शासन विकास मंच, उदयपुर
3. जैन विज्ञान केन्द्र, अहमदाबाद
4. JAINA अमेरिका - इसकी 48 शाखाएँ हैं।
5. PEACE - NEXT (120 देशों की संस्था)

Website and E-mail

1. www.jainkanaknandi.org
2. www.jainworld.com (147 देशों में) (जैना अमेरिका का)
3. E-mail : bhupesh.icpl@yahoo.co.in (Peace Next)
4. Idjo-org (श्री नरेन्द्र कुमार जैन, अमेरिका)
5. E-mail : nlkachhara@yahoo.com (चालू)
6. E-mail : info@jainkanaknandi.org

आचार्य श्री कनकनंदी का आह्वान

विज्ञान आंशिक धर्म है किन्तु धर्म पूर्ण विज्ञान है। Science is part of religion but religion is absolute science.

विश्व के समस्त जिज्ञासुओं को हमारा सादर आह्वान एवं आमन्त्रण है जो परम सत्य को धार्मिक आस्था, दार्शनिक दृष्टि तथा वैज्ञानिक प्रणाली से परिज्ञान, परिपालन व उपलब्धि करना चाहते हैं उनके

You give me co-opration, I shall give you scientific religion.

आप मुझे सहयोग दें, मैं आपको वैज्ञानिक धर्म दूँगा।

– वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

वि.वि. में आ. कनकनन्दी साहित्य कक्ष की स्थापना एवं शोधकार्य

संस्थापक एवं शोध निर्देशक -

Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater
P.E. (Mech.), M.E. (P.H.), M.A. (Jainology), Ph.D., Persuing D. Litt.

प्रो. डॉ. सोहनराज जी तातेड़ (उपकुलपति) -

आचार्य श्री कनकनन्दी जी द्वारा स्थापित संस्था के नवीन संरक्षक तथा आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के भक्त को - जैन ज्ञान विज्ञान मनीषी एवं समाज भूषण पदवी से आ.कनकनन्दी ने अलांकृत किया है।

1. न्यू एज इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी यू.एस.ए. द्वारा कोलकाता में 'डी. लिट.' की उपाधि।
2. 'राष्ट्रीय शिक्षक श्री' की उपाधि-राष्ट्रीय स्वतंत्र मंच (अखिल भारतीय कांग्रेस) दिल्ली द्वारा प्रदान।

- Former Vice Chanceller, Singhania University.
- Ph.D. Research Supervisor in University.
- Former member, B.O.M., J.V.B.U. Ladnun (Raj.)
- Former Director, Brahmi Vidyapith College Ladnun (Raj.)
- Honourary Editors, Preksha Dhyan Magazine, Ladnun (Raj.)
- Retired Superintending Engineer, P.H.E.D., Raj. Govt.
- Former conver, Parmarthik Shikshan Sansthan, Ladnun (Raj.)
- Former Advisor, J.V.B.U., Ladnun (Raj.)

डॉ. तातेड़ जी के साहित्य -

1. The Jain Doctrine of Karma and the Science of Genetics.
2. Enlightened Knowledge.

प.पू. श्रद्धेय आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव के साहित्य की स्थापित "Book Cells"

सकारात्मक सोच से विश्वास या तो पाया जाता है या खुद ही उसको विकसित किया जाता है, जो अच्छी पुस्तकों से, अच्छे दोस्तों से, अच्छी मुलाकातों के जरिए हासिल होता है। (अज्ञात)

क्र.सं.	वि.वि. का नाम	जिम्मेदार महानुभाव	फोन नं.
1.	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)	डॉ. बी.एल.सेठी (संस्थापक एवं शोधनिर्देशक)	94147 43340
2.	सेठ मोतीलाल पी.जी. कॉलेज, झुंझनु (राज.)	डॉ. बी.एल.सेठी (संस्थापक एवं शोधनिर्देशक)	94147 43340
3.	जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)	प्रो.जे.पी.एन मिश्रा	94143 42003
4.	एल.डी. इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद (गुजरात)	डॉ. जितेन्द्र बी.शाह	098258 00126
5.	जयनारायण व्यास वि.वि., जोधपुर (राज.)	डॉ. चन्द्रशेखर	98280 82560
6.	अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (म.प्र.)	प्रो. एस.पी.दुबे	092291 32699
7.	बनारस हिन्दु वि.विद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)	डॉ. विजय कुमार जैन	094502 40359
8.	तीर्थङ्कर वर्द्धमान वि.विद्यालय, मुरादाबाद (उ.प्र.)	डॉ. आर. के. मित्तल	098379 33666
9.	सिंघानिया वि.वि. पचेरी बड़ी, झुंझनु (राज.)	प्रो. योगेश कुमार शर्मा	99826 09201 94143 47157
10.	जोधपुर राष्ट्रीय वि.विद्यालय, जोधपुर (राज.)	डॉ. प्रदीप कुमार डे	93515 90734
11.	गुजरात वि.विद्यालय, अहमदाबाद (गुज.)	डॉ. दिलीप चारण	098251 48840
12.	श्रीधर वि.विद्यालय, पिलानी (राज)	डॉ. श्याम सुन्दर पुरोहित	96172 00650
13.	आर.सी.एस.एस. कॉलेज, वीहट (बिहार)	डॉ. विद्यासागर सिंह	099737 47234
14.	लखनऊ वि.विद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)	डॉ. अमरजीत यादव	094157 74470
15.	मोहनलाल सुखाड़िया वि.वि., उदयपुर (राज.)	लायब्रेरियन	
16.	विक्रम वि.विद्यालय, उज्जैन(म.प्र.)	डॉ. बीरबाला छाजेड़	
17.	एन.एम.आर. इंजी. कॉलेज, हैदराबाद (आ.प्र.)	श्री किरण कुमार जैन (वैज्ञानिक)	095021 62631
18.	मुम्बई विश्व विद्यालय, मुम्बई (महाराष्ट्र)		
19.	जम्मु विश्व विद्यालय (जम्मु-काश्मीर)		
20.	कोलहान यूनिवर्सिटी, चायवास, जमशेदपुर (करीम सिटी कॉलेज लायब्रेरी)	प्रो. अशरफ बिहारी	
21.	पंजाबी वि.विद्यालय पटियाला (पंजाब)		

क्र.सं.	वि.वि. का नाम	जिम्मेदार महानुभाव	फोन नं.

22. पंजाब वि.विद्यालय
चंडीगढ़ (पंजाब, हरि.)
23. आन्ध्रा वि.विद्यालय
विशाखापट्टनम् (आ.प्र.)
24. एम.डी.एस.डी. गर्ल्स कॉलेज,
अम्बाला सिटी (पंजाब)
25. लाल बहादुर शास्त्री
संस्कृत विद्यापीठ, मुम्बई
26. बाहुबली प्राकृत संस्थान,
श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)
27. एस.के.सोमैया,
जैन स्टडी सेन्टर, मुम्बई
28. महात्मा गाँधी ग्रामोदय वि.वि.
चित्रकुट (म.प्र.)
29. टिबरवाल यूनिवर्सिटी,
झुंझुनु (राज.)
30. महात्मा ज्योतिबा फुले वि.वि.,
जयपुर (राज.)
31. भगवन्त वि.वि.,
अजमेर (राज.)
32. अमिति वि.वि.,
जयपुर (राज.)
33. डॉ. हरिसिंह गौड वि.वि.,
सागर (म.प्र.)
34. जगन्नाथ वि.वि.,
रामपुरा, जयपुर (राज.)
35. विनोबा भावे वि.वि.,
हजारीबाग (झारखंड)
36. पश्चिमी गुजरात वि.वि.,
सूरत (गुजरात)
37. इण्डियन बोर्ड ऑफ आल्टरनेटिव
मेडिसिन कलकत्ता (प. बंगाल)
38. प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.)
39. आई.ए.एस.ई.यूनिवर्सिटी, सरदारशहर, जि.-चुरू (राज.)
40. आई.सी.पी.आर.अकादमिक सेन्टर लखनऊ (उ.प्र.)
41. कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी, कुरुक्षेत्र (हरि.)
42. मराठवाड़ा यूनिवर्सिटी, औरंगाबाद (महा.)
43. विश्वेश्वरैया टेक्नीकल यूनिवर्सिटी, बेलगाँम (कर्नाटक)
44. नागपुर यूनिवर्सिटी, नागपुर (महा.)
45. लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी फगवाड़ा (पंजाब)
46. द्रोणाचार्य कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, गुड़गाँव (हरियाणा)
47. बी.आर.अम्बेडकर बिहार यूनिवर्सिटी, मुजफ्फरपुर (बिहार)

सीपुर क्षेत्र के महान् कार्य, नियम (संविधान) तथा 21 चातुर्मास

(सीपुर क्षेत्र में 21 चातुर्मास हेतु आचार्य श्री कनकनन्दी ससंघ को हार्दिक निवेदन)

1. अतिशय क्षेत्र सीपुर में वृद्ध, रुग्ण (रोगी), समाज से उपेक्षित 50-55 साधु-सन्तों की सेवा, व्यवस्था तथा सन्त-सदन निर्माण के महान् उद्देश्य से आचार्य श्री कनकनंदी ससंघ को सीपुर क्षेत्र पर 21 (इक्कीस) चातुर्मास हेतु साग्रह, हार्दिक श्रीफल अर्पण सहित निवेदन!

2. **विशेष नियम** – (I) किसी भी प्रकार के सङ्कीर्ण, कट्टर, अनुदार, कलह-विषमताकारी पंथवाद, मतवाद, ग्रंथवाद, परम्परावाद, सन्तवाद, जातिवाद, क्रिया-काण्डवाद का क्षेत्र पर पूर्णतः निषेध है। सब कोई उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, शान्ति, समन्वय, सहयोग, सेवा, वैयावृत्ति, दान से सहित मर्यादा एवं शालीनता में साधनारत रहेंगे।

(II) किसी भी प्रकार के चन्दा, याचना कोई भी जैन गृहस्थ, व्रती, विद्वान, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, साधु संघस्थ सदस्य, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, साधु, उपाध्याय, आचार्य आदि को करना निषेध है।

(III) किसी भी प्रकार के महान् कार्य, समस्या, जिज्ञासा का समाधान आदि आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव के आशीर्वाद, शुभकामनायें, मार्गदर्शन में होगा।

3. उपरोक्तमहान् कार्य अतिशय क्षेत्र सीपुर से लेकर सम्पूर्ण भारत में भी हो ऐसी पवित्र भावना भाते हैं।

4. उपरोक्तमहान् कार्य के लिए उपरोक्तनियमानुसार आचार्य श्री कनकनंदी जी का आशीर्वाद (अपवाद एवं विशेष परिस्थिति को छोड़कर)

मार्गदर्शन, सानिध्य केवल 21 चातुर्मास में ही नहीं, आजीवन रहेगा। ऐसा ही आशीर्वाद, मार्गदर्शन, सानिध्य उपाध्याय श्री समतासागरजी गुरुदेव का रहेगा।

5. **आह्वान** – उदारमना अखिल विश्वस्तरीय जैन समाज तथा विश्व मानव समाज को शुभ आह्वान है कि आप सब स्वेच्छा (स्वप्रेरणा) से, पवित्र भाव से उपरोक्त महान् कार्यों के लिए तन-मन-धन-समय-श्रम से योगदान करके स्वयं को पवित्र एवं महान् बनावें ऐसी पवित्र भावना है।

स्वाध्याय से स्व-पर-विश्व कल्याण-

आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरुदेव के प्रगतिशील स्वाध्याय, अध्यापन से सब लाभान्वित होकर स्व-पर-विश्व कल्याण में समर्थ बनें ऐसी उदात्त भावना है।

विशेष – संत निवास विवहादि सामाजिक कार्य एवं किराया के लिए भी नहीं दिया जायेगा।

निवेदक :

सीपुर समता तीर्थधाम, अतिशय क्षेत्र सीपुर, तह. – सराड़ा

जिला – उदयपुर (राज.) 313903

मो. 9928435342, 9828613614

(सीपुर क्षेत्र में आ. कनकनंदी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त दोनों संस्थान की नवीन शाखा की स्थापना)

विकासादि के गणितीय आयाम-सूत्र

(1) शरीर < इन्द्रियाँ < मन < आत्मा। शरीर से अधिक इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से अधिक मन एवं मन से अधिक आत्मा – चेतना अधिक शक्तिशाली है। क्योंकि आत्मा में अनन्त

शक्ति है और उस शक्ति के क्रम हानि रूप से शक्ति मन आदि में है। यथा – अनन्त शक्तिआत्मा > मन > इन्द्रियाँ > शरीर। यह गणित क्रम ज्ञान, सुख, सफलता, विकास, असफलता, विनाश आदि में भी जान लेना चाहिए।

(2) बुद्धि से श्रेष्ठ सकारात्मक विचार, सकारात्मक विचार से श्रेष्ठ समतापूर्ण शान्तज्ञान। बुद्धि < सकारात्मक विचार < समतापूर्ण शान्त ज्ञान। यह क्रमवृद्धि सफलता, विकास आदि में भी जान लेना चाहिए।

(3) भौतिक – आर्थिक विकास < शारीरिक विकास < मानसिक विकास < आध्यात्मिक विकास। यह क्रम सफलता, सुख आदि में भी है।

(4) महान् उद्देश्य + पवित्र भावना + व्यापक उदार दृष्टिकोण + सतत प्रबल पुरुषार्थ = महान् विकास/महान् सफलता।

(5) महान् सफलता के लिए महान् उद्देश्य = 3, पवित्र भावना = 3^2 (9), व्यापक उदार दृष्टिकोण = 3^3 = 27, सतत प्रबल पुरुषार्थ = 3^4 = 81 का योगदान है।

(6) 1234 यदि आध्यात्मिक-मानसिक-शारीरिक-भौतिक सुख हैं तो 1 = 1000 सुख आध्यात्मिक, 2 = 200 मानसिक सुख, 3 = 30 शारीरिक सुख, 4 = 4 भौतिक सुख हैं। ऐसा ही विकास, विनाश, सफलता, असफलता में जान लेना चाहिए।

(7) सफलता – विकास के लिए धन < साधन < तन < समय < मन < श्रम – पुरुषार्थ का योगदान है।

– आचार्य श्री कनकनंदी

1. बुद्धिजीवियों का व्यक्तिवाद अनिवार्यतः उनमें एक ऐसा मानसिक रोग पैदा कर देता है, जो उन्माद का निकट सम्बन्धी है।
(मैक्सिम गोर्की)

2. सही सोचो, सही जानो, सही देखो, सही बोलो और सही करो।
(चन्द्रप्रभ सागर)

3. इतिहास केवल देखना नहीं, चिन्तन भी है। चिंतन रचनात्मक होता है, चाहे सृजनात्मक न भी हो। **(डा. राधाकृष्णन्)**

4. वातावरण, शिक्षा और संस्कार से ज्यादा व्यक्ति की सोच उसकी जीवन शैली को प्रभावित करती है। **(चन्द्रप्रभ सागर)**

5. हम जिस किसी जीवन क्षेत्र को लेकर विचार करते हैं, तो यही मालूम होता है कि हम भारतीय जितने प्रमाण में संस्कृति व धर्म की बातें करते हैं, हमारा समूचा जीवन उतने ही प्रमाण में संस्कृति व धर्म से दूर है। केवल अपने श्रद्धावान महापुरुषों के नाम पर जीना और बड़ाई की डींगें हांकना तो असंस्कृति और धर्म – पराङ् – मुखता का ही लक्षण है। **(प्रज्ञाचक्षु पं. सुखवाल)**

6. जो सोच नहीं सकता, वह मूर्ख है। जो सोचना नहीं चाहता, वह अंधविश्वासी है। जिसमें सोचने का साहस नहीं, वह गुलाम है।
(एन्ड्रयू कारनेगी)

7. स्वर्ग और नरक कहीं अन्यत्र नहीं, इनका निवास हमारे चिन्तन में ही है। **(विवेकानन्द)**

8. तुम अपने प्राणों के द्वार खोलकर देखो, सभी शास्त्र तुम्हें वहीं मिल जायेंगे। तुम्हारे अन्दर सभी धर्म, सभी युगों के अवतार मौजूद हैं। तुम्हारा हृदय ही विश्व मन्दिर है, जहाँ सभी देवताओं का निवास है। फिर क्यों अपने भगवान् को निर्जीव किताबों के पन्नों में ढूढते फिर रहे हो? **(नजरूल इस्लाम)**

अखिल भारतीय दर्शन परिषद

प्रो.डॉ.तातेड अखिल भारतीय दर्शन परिषद के धर्म दर्शन शोध प्रत्र वाचन सत्र जम्मू में 8-10 अक्टू. की अध्यक्षता करते हुए। डॉ.तातेड इस संस्था के उपाध्यक्ष भी है। इस परिषद के माध्यम से तातेडजी शोधकार्य हेतु भारत के 14 प्रदेशों के 47 वि.वि.में आचार्य कनकनंदी साहित्य की स्थापना करने के साथ-साथ 100 वि.वि. में स्थापना के लिए प्रयास रत।

बालप्रतिभा सम्मान

स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में मेवाड़-वागड़ अंचल के अनेक ग्राम-शहर के जैन-अजैन 34 प्रतिभावान् विद्यार्थियों का सम्मान का एक दृश्य।
(15-8-2010 - अतिशय क्षेत्र-सीपुर)

ग्रंथ विमोचन

प्रो.डॉ.तातेड स्वरचित ग्रंथ का विमोचन हेतु आ. महाप्रज्ञ को समर्पण करते हुए। तातेड़जी आ.कनकनंदी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त संस्थान के संरक्षक तथा भारत के 14 प्रदेशों के 47 विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हेतु ''आ.कनकनन्दी साहित्य कक्ष'' के स्थापनकर्ता।

विश्वधर्मसभा में व्याख्यान

आचार्य कनकनंदी के प्रतिनिधित्व रुप में पांचवी विश्वधर्म संसद में कर्मसिद्धान्त और जैनधर्म के मूल सिद्धान्त पर व्याख्यान करते हुए डॉ.कठारा तथा पास में भट्टारक देवेन्द्र कीर्तिजी। (2009) मेलबोर्न - ऑस्ट्रेलिया